गुरुकुल-पत्रिका

पूर्णाङ्क ९३
अप्रैल १९५६

व्यवस्थापक : श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति
सम्पादक समिति : श्री सुखदेव दर्शनवाचस्पति
श्री शङ्करदेव विद्यालङ्कार
श्री रामेश बेदी (मन्त्री)

★

इस अङ्क में

अगले अङ्क में

एक नया अनुभव	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति
वेद में स्त्रियों का विवाहित जीवन	श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति
कला और अन्तर्दर्शन	श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

अन्य अनेक विश्रुत लेखकों की सांस्कृतिक, साहित्यिक व स्वास्थ्य सम्बन्धी रचनाएं।

मूल्य देश में ४) वार्षिक
विदेश में ६) वार्षिक

एक प्रति
छः आने

ॐ

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की मासिक पत्रिका]

मेरे पिता : संस्मरण—१४

१९२४ का एकता सम्मेलन

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

जैसे १९१९ के प्रारम्भ में भारत की राष्ट्रीयता और एकता के सुनहरे अनुभव की प्रारम्भिक स्मृतियाँ मेरे स्मृति पट पर अंकित हो गयी थीं, उसी प्रकार १९२४ के पहले साम्प्रदायिक दंगे की काली और कड़वी स्मृतियाँ भी अंकित हुए बिना न रहीं। वे दिन जब याद आते हैं, तो दिल कांप उठता है। यदि रौलटऐक्ट के आन्दोलन ने दिल्ली के अन्तरिक्ष में सुप्रभात का रूप बांध दिया था, तो कहना पड़ेगा कि १९२४ के फिसाद ने भयानकी रात्रि का दृश्य दिखला दिया। सुप्रभात के पीछे इतनी शीघ्र रात्रि आ जायगी यह आशंका किसी को नहीं थी।

दंगा अकस्मात् नहीं हुआ। उस की तैयारी और समय तक का निश्चय प्रत्यक्ष में हुआ। स्थानीय सरकार को उस उद्योगपर्व का एक-एक सर्ग मालूम था। एक ओर जाटों के इलाके पहाड़ी धीरज पर से कुर्बानी की गाय को धूमधाम से ले जाने की तैयारी हो रही थीं, और दूसरी ओर उस रास्ते को रोकने की योजना खुले तौर पर बनाई जा रही थी। सारा शहर जानता था, और स्थानीय सरकार भी जानती थी। सरकार ने उन योजनाओं को नहीं रोका—और ईद के मौके पर फिसाद हो गया।

फिसाद भी दिन दहाड़े अधिकारियों की नाक के नीचे हुआ। दिन के दो बजे होंगे। हजारों आदमियों की भीड़ के साथ कुर्बानी की गाय का जुलूस पहाड़ी धीरज पर से निकाला जा रहा था। उस के साथ पुलिस की गारद थी। जब वह जुलूस एक विशेष स्थान पर पहुँचा तब पहले से आशंकित दंगे पर हिन्दू मुसलमानों में मार काट और छीना झपटी शुरू हो गयी, लाठी चली, पत्थर चले और छुरे भी चले। कुर्बानी का जुलूस छिन्न-भिन्न हो गया और फिसादी लोग आसपास की गलियों में बिखर गये। वहां फिसाद ने बड़ा गन्दा और बीभत्स रूप धारण किया। बूढ़े, बच्चे और स्त्रियां किसी का भी लिहाज नहीं किया गया। मुसलमानों की भीड़ ने घरों में घुस कर हिन्दुओं को आहत किया और हत्याएँ भी कीं। घण्टाघर पर सिपाहियों की गोलियों से बहाये गये रुधिर ने जिस एकता की वाटिका को हरा-भरा किया था, उस दिन छुरों और लाठियों द्वारा बहाये गये रक्त ने तेजाब बन कर उसे जला दिया। १९२४ के सायंकाल स्थान-स्थान पर एकता और परस्पर प्रेम के खण्डहरों को शहर में जगह-जगह बिखरा हुआ देख कर ऐसा अनुभव होता कि १९१९ का जागरण मानों एक सपना था, जिसे शत्रु ने झटका देकर तोड़ दिया।

दिल्ली भारत का हृदय है, कलकत्ता और

बम्बई आकार में बड़े हैं उस में ऐश्वर्य और शिक्षा की बहुतायत है—यह सब कुछ होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि दिल्ली देश की अनुभव-शक्ति का केन्द्र है। उस के हर्ष और शोक का असर देश पर तुरन्त और व्यापी होता है। जब दिल्ली से एकता का झोंका उठा तब देश भर में सुखकारी पवन बहने लगा और जब दिल्ली में साम्प्रदायिक झगड़े का उत्पात मचा तो भारत पर प्रकाशित हो उठा। फलतः उठते हुए बवंडर को रोकने के लिए सितम्बर मास में देश के प्रतिनिधियों की एक बृहद् कान्फ्रेन्स बुलाई गई। जिस में सम्मिलित होने के लिए महात्मा गाँधी, पं० मदनमोहन मालवीय, मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद, मौलाना मुहम्मद अली जिन्ना आदि सार्वदेशिक हिन्दू मुसलमान नेता एकत्र हुए।

सिंहावलोकन

महात्माजी साम्प्रदायिक दंगे के भयानक समाचारों को सुन कर दिल्ली आये, और सब्ज़ीमण्डी में मेसर्स नन्हेमल जानकीदास की कोठी में ठहरे। वहाँ उन्होंने २२ दिन का स्मरणीय उपवास किया। उस उपवास और उस के साथ हुए एकता सम्मेलन की स्मृतियों को स्पष्ट रूप से अङ्कित करने के लिए कुछ थोड़े से सिंहावलोकन की आवश्यकता है। पूरा चित्र समझने में पाठकों को उस से सहायता मिलेगी।

१६२२ के दिसम्बर मास के गुरु के बाग वाले मोर्चे के सम्बन्ध में अकाली सत्याग्रहियों को आशीर्वाद देने के लिए पिता जी अमृतसर गये। वहाँ, अकालतख्त के समीप हुई सार्वजनिक सभा में दिये व्याख्यान पर पञ्जाब की सरकार ने आपको गिरफ्तार कर लिया, वस्तुतः यह गिरफ्तारी पञ्जाब सरकार के दिमाग में दो साल से घूम रही थी। अमृतसर कांग्रेस के समय से ही ओडवायर के मलाहकार 'स्वामी' के विरुद्ध दांत पीस रहे थे। अवसर पाकर पंजाब सरकार ने पिता जी को १६१६ में अमृतसर में कांग्रेस करने के अपराध की सज़ा १६२२ में एक वर्ष कारागार के रूप में दे डाली।

१६२२ के अन्त में पिता जी जेल से मुक्त हो कर बाहर आ गये। जेल में संपूर्ण परिस्थिति पर शान्त विचार करने से आप जिस परिणाम पर पहुंचे उसे आप ने अपने संस्मरणों में निम्नलिखित भाषा में लिखा है—'मुझे निश्चय हुआ है कि अभी चरित्रगठन में बड़ी कमी है। कम से कम मैं तो ऐसे सांचे में ढला हूं कि कई अंशों में स्वयं सदाचार की कमी अपने अन्दर अनुभव करते हुए भी चरित्रहीन पुरुषों के साथ काम नहीं कर सकता। कांग्रेस, हिन्दू महा सभा, खिलाफत और अन्य अखिल भारत वर्षीय संस्थाओं को चलाने के लिए बड़े-बड़े व्यक्ति विद्यमान हैं, मुझ जैसे अल्प शक्ति वाले मनुष्य के लिए यही बड़ा काम है कि ब्रह्मचर्य के उद्धार और दलित जातियों के उत्थान का मार्ग जो अपने को सूझा है, उस का सन्देश आर्य जाति के आगे रखने का यत्न करूं।'

जेल से बाहिर आ कर अपने इसी संकल्प की पूर्ति में पिता जी ने कांग्रेस की वर्किंग कमेटी में इस आशय का प्रस्ताव भेजा कि कांग्रेस दलित भाइयों की मांगों को पूर्ण करने का तुरन्त यत्न करे। कांग्रेस कमेटी शाब्दिक रूप से दलितोद्धार के कार्य से सहानुभूति प्रकट करती हुई भी उस समय क्रियात्मक रूप से कुछ करने को तैयार नहीं थी। यह अनुभव कर के पिता जी ने १६२३ के जुलाई मास में कांग्रेस के प्रधान मंत्री पं० मोतीलाल जी नेहरू को कांग्रेस के

अपना त्यागपत्र भेज दिया। पं० मोतीलाल जी नहीं चाहते थे कि पिताजी कांग्रेस से अलग हों, परन्तु आपके कई बार आग्रहपूर्ण पत्र लिखने पर कमेटी ने त्यागपत्र स्वीकार कर लिया।

इन्हीं दिनों आगरा जिले में मलकानों की शुद्धि का आन्दोलन जारी हो रहा था। आर्य समाज के प्रमुख नेता की हैसियत से आपकी भी उसमें सहानुभूति थी। शुद्धि कार्य के लिये जो शुद्धि सभा बनी, आप उस के प्रधान चुने गये।

जो मुसलमान मौलवी हिन्दुओं तथा अन्य धर्मावलम्बियों में इस्लाम की तबलीग करना अपना मजहबी फर्ज समझते थे, वह शुद्धि कार्य, शुद्धि सभा, और उसके साथ सम्बन्ध होने के कारण पिताजी से भी सख्त नाराज होगये, और मुसलमान पत्रों ने उनके विरुद्ध विषैला आन्दोलन आरम्भ कर दिया। मोपलाओं और मुल्तान के दंगों के कारण देश का साम्प्रदायिक वातावरण बिगड़ ही रहा था, इस बिगाड़ की जिम्मेदारी शुद्धि आंदोलन और पिताजी के सिर मढ़ कर मौलाना मुहम्मदअली जैसे राष्ट्रवादी कहलाने वाले मुसलमान भी शुद्धि कार्य को स्थगित कराने के प्रस्ताव उपस्थित करने लगे।

देश में बढ़ते हुए साम्प्रदायिक विक्षोभ को शांत करने के लिये १९२३ के दिसम्बर मास में कांग्रेस के विशेषाधिवेशन के साथ दिल्ली में एकता सम्मेलन का अधिवेशन भी किया गया था। उस सम्मेलन में जब पिताजी पर यह जोर डाला गया कि वह मलकानों की शुद्धि के कार्य को बन्द करादें तो आप ने अत्यन्त न्यायपूर्ण उत्तर दिया था कि "यदि मुसलमानों के सब प्रचारक वहां से लौट आयेंगे तो, मैं भी शुद्धि सभा को अपने कार्यकर्ताओं को आगरे से लौटा लेने के लिये सलाह दूंगा, और यदि सभा ने मेरा निवेदन न माना तो उक्त सभा के पद से अलग हो जाऊंगा।" मौलाना मुहम्मदअली ने उल्लेमाओं के पैरों में अपनी टोपी रखकर प्रार्थना की कि वे अपने प्रचारकों को वापिस बुलालें। परन्तु वे नहीं माने और शान्ति सभा बिना किसी परिणाम पर पहुंचे ही भंग हो गई थी।

१९२४ में बकरीद पर दिल्ली में वह दंगा हो गया, जिसका चर्चा मैं इस लेख के आरम्भ में कर आया हूँ। उस दंगे के समाचारों ने देश के राष्ट्रीय नेताओं को उद्विग्न कर दिया, जिसका परिणाम वह एकता सम्मेलन था, जिस पर महात्मा जी ने अपना प्रसिद्ध २१ दिनों का उपवास किया था।

महात्मा जी का एकता सम्बन्धी लेख

यहाँ प्रसंगवश मैं महात्मा जी के हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्बन्धी लेख की चर्चा भी कर देना चाहता हूं, जो यगइंडिया में प्रकाशित हुआ था। उसमें महात्मा जी ने हिन्दू-मुस्लिम विरोध के कारणों पर विचार करते हुये जिस शैली का अनुसरण किया था, उससे सम्भव है, मुस्लिम संसार पर उनकी उदारता का सिक्का जमा हो, परन्तु भारत की राजनीति और सामाजिक दशा पर उसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। उस लेख में महात्मा जी ने कुरान और इस्लाम की खूब प्रशंसा की, और सत्यार्थप्रकाश और उसके मानने वालों के लिए बहुत तिरस्कार सूचक शब्दों का प्रयोग किया। पिताजी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) पर तो उस लेख में विशेष कृपा की गई थी, यह मेरा ही नहीं, प्रायः सभी हिन्दू हृदय रखने वाले भारतवासियों का मत था, कि महात्मा जी ने उस लेख में स्वामी जी के सम्बन्ध में जो पक्षपातपूर्ण आलोचना की थी, उसने देश के साम्प्रदायिक वातावरण में बहुत ही विषैला धुआं फैला दिया। मैंने "वीर अर्जुन" में महात्मा जी के

उस लेख के विरुद्ध एक आवेशपूर्ण लेखमाला लिखी थी। उस लेखमाला को मैं अब पढ़ता हूँ तो महात्मा जी के लेख ने हिन्दुओं के हृदयों में सामान्यतः, और आर्य-समाजियों के हृदयों में विशेषतः जो घोर प्रतिक्रिया पैदा की थी, उस का कुछ अनुमान लगा सकता

मेरा विचार है कि महात्मा जी ने भी अपना लेख प्रकाशित हो जाने के पश्चात् यह अनुभव किया था कि वे उस लेख में आर्यसमाज और स्वामी जी के साथ अन्याय कर गये हैं। यंग इण्डिया में कई सम्पादकीय लेख लिख कर इन्होंने अपने प्रारम्भिक लेख के असर को धोने की चेष्टा की परन्तु जो जहर फैल चुका था, वह दूर न हो सका। उस लेख के दो बुरे परिणाम हुए। एक तो यह कि देश के बिगड़े हुए वातावरण की मुख्य जिम्मेदारी मुख्य रूप से आर्य-समाज और स्वामी जी पर डाली गई। जो सत्य के सर्वथा विरुद्ध थी और दूसरा यह कि साम्प्रदायिक मुसलमानों को यह विश्वास हो गया कि महात्मा गान्धी हम से डरते हैं हम चाहें, कुछ करें वे हमें अच्छा और दूसरों को बुरा कहेंगे।

आगामी १० वर्षों में भारत की राजनीति में जो अव्यवस्था आ गई, उस का मुख्य कारण वह दूषित मनोवृत्ति थी, जो यंग इण्डिया के एकता सम्बन्धी लेख से पैदा हुई।

सऊदी अरब

सऊदी अरब का क्षेत्रफल लगभग १० लाख वर्ग मील है। इस के उत्तर में ईराक और और सीरिया, दक्षिण में यमन, हदुंत और ओमन, पूर्व में फारस की खाड़ी और पश्चिम में लाल सागर है। इस की आबादी लगभग ७० लाख है और राजधानी मक्का है। अन्य प्रसिद्ध शहर रियाध, मदीना, जद्दा और हूफत हैं।

सऊदी अरब में गेहूँ, जौ, दालें, ज्वार-बाजरा, मक्का और धान पैदा होता है। मदीना में अच्छी किस्म के छुआरे बहुत पैदा होते हैं। अंगूर, अंजीर और तरबूज आदि फल भी पैदा होते हैं। पैदावार बढ़ाने में सहायता देने के लिये कई विदेशी विशेषज्ञ कृषि मन्त्रालय की देख-रेख में काम कर रहे हैं।

देश के राजस्व के मुख्य साधन यहां के तेल-क्षेत्र हैं, जो फारस की खाड़ी के तट पर स्थित हैं। १९५४ में प्रतिदिन ९,५३,००० बैरल तेल निकाला गया। तेल का मुख्य क्षेत्र आबकैक में है। अन्य क्षेत्र आइन दार और दमाम में हैं। १९५४ में इन तेल-क्षेत्रों में लगभग २२,००० व्यक्ति काम करते थे, जिन में भारत, सूडान, इटली, अदन, पाकिस्तान, अमेरिका और फिलिस्तीन आदि के निवासी भी थे। सऊदी अरब के तेल-स्रोत संसार में प्रसिद्ध हैं और प्रत्येक तेल-कूप से काफी तेल निकलता है।

सऊदी अरब का व्यापारिक सम्बन्ध संसार के कई देशों से है। यह भारत से चावल, आटा, दाल, चीनी, चाय, कहवा, सूखे फल, मसाले, सिले हुए कपड़े, सजावट का सामान, इमारती लकड़ी, रेशम का माल आदि मंगाता है। भारत से मंगाये जाने वाले माल का वार्षिक मूल्य लगभग ४,५०,१६,०५५ सऊदी रियाल है (एक रियाल लगभग १॥ रु० के बराबर होता है)। और भारत को भेजे जाने वाले माल का वार्षिक मूल्य लगभग १२,००० सऊदी रियाल है।

शिक्षा—भगवान् के साक्षात्कार का एक साधन

श्री अनन्तशयनम् आयगर, अध्यक्ष, लोकसभा

गुरुकुल विश्वविद्यालय के सदस्यो, ब्रह्मचारियो और भद्रजनो,

गुरुकुल विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-प्रवचन के लिए निमन्त्रित कर के, मुझे आप ने जो सन्मान और गौरव प्रदान किया है उस के लिए मैं आप का अतिशय अनुगृहीत हूँ।

मेरे सन्मुख असीम शांति के साथ यह उत्तुंग हिमाचल खड़ा हुआ दिखाई दे रहा है। सृष्टि के उषाकाल से पतितपावनी भगवती भागीरथी के ये पुण्यजल शांत भाव से गिरिमालाओं से नीचे उतर रहे हैं। इस अतिशय मनभावने वातावरण को देखते ही मुझे एकाएक भारत के अतीत गौरव के दिन स्मरण हो आते हैं।

वह युग था जब कि ऋषि-मुनिगण शिक्षा के प्रसार के लिए आश्रम स्थापित किया करते थे और अपने अन्तेवासियों (छात्रों) को विद्या और ज्ञान के मूलभूत तत्वों की शिक्षा दिया करते थे। अपने इस प्रिय ध्येय के लिए वे अनासक्ति और समर्पण का जीवन व्यतीत करते थे। वे आचार्यजन अपने ब्रह्मचारियों के निकट-सानिध्य में रहते थे। वे उन को ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा देते थे। आर्यावर्त की इस शिक्षा-विधि के गौरव का वर्णन करने से पूर्व मैं इस विद्या-निकेतन के प्रशसित प्रतिष्ठापक और उन के सहकर्मियों की स्मृति को अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

१६ वीं शताब्दी के पिछले दिनों में भारतवर्ष में दो प्रकार की शिक्षा प्रचलित थीं। स्वदेशी ढंग पर चलने वाली पाठशालाएं और युनिवर्सिटी की रीति पर चलने वाले कालेज। स्वदेशी ढंग से चलने वाली पाठशालाओं की दशा शोचनीय थी। पश्चिमी शिक्षा के प्रचलन द्वारा देश में पश्चिमी संस्कृति अपने पैर जमा रही थी। इस नवागत शिक्षा और संस्कृति के सम्पर्क से हमारे देश का वातावरण प्रभावित होता जा रहा था। देशी पाठशालाओं में दीक्षित व्यक्ति इस परिवर्तित वातावरण के साथ अपने को ढालने में समर्थ नहीं थे। लार्ड मेकौले द्वारा भारत में प्रचालित शिक्षा प्रणाली का ध्येय ऐसे व्यक्तियों को पैदा करना था जो आगे जाकर अंग्रेज शासकों को शासन कार्य में सहायता दे सकें।

शिक्षा की इस प्रणाली में सांस्कृतिक और सामाजिक भावनाओं का सर्वथा अभाव था। अंग्रेज शासकों द्वारा उस समय जो शिक्षा-विधि प्रचलित की गई, उस का उद्देश्य प्रधान रूप से व्यापारिक था। वह शिक्षा और दीक्षा किस काम की जो मानव के आध्यात्मिक उत्थान में सहायक नहीं हो सकती? उस शिक्षा से क्या प्रयोजन जो हमें अपने मानव-बन्धुओं से स्नेह करना न सिखाए? जो हमें अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम-भावना को प्रबुद्ध न करे। परन्तु अवस्था यह थी कि १६ वीं शती के प्रारम्भ में जो शिक्षा-विधि प्रचलित थी वह भारतीय प्रजा में राष्ट्रिय-चेतना को विकसित नहीं कर रही थी।

ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा बंगाल में सन् १८१७ के आस-पास कुछ शिक्षा-केन्द्र स्थापित किए गए परन्तु वे पाश्चात्य संस्कृति केन्द्र के रूप में परिणत हो गए। उन के द्वारा भारतीयों में पश्चिमी संस्कार प्रविष्ट हुए और वहीं के रीति-रिवाज और फैशन उन की चेतना में घर करने लगे। दूसरी ओर उस शिक्षा का प्रभाव यह

हुआ कि हम भारतीय अपनी संस्कृति, अपने आचार-विचार, अपने धर्म-कर्म और अपने विद्या-वैभव से घृणा करने लगे। यह प्रक्रिया जब अपनी चरम सीमा को पहुंच गई तब हमारे देश के सुधी-जनों के मन में एक प्रतिक्रिया प्रबुद्ध हुई। यह स्वाभाविक ही था। भारत में बढ़ते हुए भौतिक-वाद और राष्ट्रियता-विरोधी तत्वों के विरोध में आवाज बुलंद की गई। बंगदेश में ब्रह्म-समाज की प्रवृत्ति द्वारा पश्चिमीपन की इस बाढ़ को रोकने के लिए उपनिषद् की शिक्षाओं के आधार पर एक बुद्धि-संगत धार्मिक आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। उस के कुछ समय उपरान्त ही महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पश्चिमी भारत में आर्यसमाज के आन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन द्वारा जनता में राष्ट्रिय चेतना को प्रदीप्त किया गया और बढ़ती हुई पश्चिमी सभ्यता की प्रवृत्ति को जोरदार चुनौती दी गई। महर्षि दयानन्द ने अपनी शिक्षा-विधि में भारत के अतीत गौरव की भावना को पुनः प्रस्थापित किया। महर्षि की शिक्षा-विधि वेदों की शिक्षाओं पर आधारित थी।

श्रीयुत केशवचन्द्र सेन और महर्षि दयानन्द द्वारा प्रारम्भ किए गए इन दोनों आन्दोलनों का जनता के मन पर आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ा। हमारी मातृभूमि ने मानो अपनी खोई हुई चेतना को पुनः प्राप्त किया। प्रजा के मन में आत्म-सन्मान और आत्म-विश्वास की भावना जाग उठी। देश ने मानो अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकार का साक्षात्कार कर लिया। भारतीय प्रजा अनुभव करने लगी कि प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा-विधि के स्थान पर प्राची की भावना से ओतप्रोत ऐसी शिक्षा-प्रणाली को हमें प्रस्थापित करना चाहिए जिस में पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के उदात्त तत्वों का सुलभ समन्वय विद्यमान हो। महर्षि दयानन्द सन् १८८३ में दिवंगत हो गए। परन्तु उन के द्वारा संस्थापित संस्थाओं में उन का चरित्रबल और उन की शिक्षाओं का तेज, उत्साह और प्राण प्रतिबिम्बित हो रहा था। महर्षि दयानन्द जी द्वारा प्रबोधित गुरुकुल शिक्षा की भावना को क्रियात्मक रूप प्रदान करने का श्रेय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी को प्राप्त हुआ।

सन् १९०२ में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने एक प्राथमिक शिक्षा निकेतन के रूप में गुरुकुल की स्थापना की, जो आज एक पूर्ण विकसित आश्रमिक विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो चुका है, जिस में संप्रति चार महाविद्यालयों का समावेश है। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की अन्तरात्मा में एक ऋषि जैसी अन्तर्दृष्टि विद्यमान थी। उन्होंने अनुभव किया कि आत्मसंशोधन और राष्ट्रिय-पुनर्जागरण के आन्दोलन केवल शुद्धि की प्रवृत्ति (मतपरिवर्तन = धार्मिक संशोधन) तक ही सीमित नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तियों के चरित्र में जीवन की पवित्रता, न्यायप्रियता और नम्रता प्रस्फुटित हो। चरित्र की ये विशेषताएं साधना और तपस्या के द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। एक ऋषि के अन्तर्दर्शन के समान उन्होंने अनुभव किया कि इस प्रकार का प्रशिक्षण बालकों के प्रारम्भिक जीवन में ही सम्भव है, जब कि मनुष्य जीवनक्रम चरित्र-निर्माण के क्षणों में से प्रवाहित हो रहा होता है।

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का यह विश्वास था कि शिक्षा ही आत्म-संशोधन का एक मात्र आधार है। प्राचीन आर्यवर्त में प्रचलित ब्रह्मचर्य-पालन और गुरु के आश्रम में रह कर शिक्षा-साधना की पद्धति को पुनर्जीवित करना उन का उद्देश्य था। साथ ही हिन्दी-भाषा के माध्यम द्वारा संस्कृत वाङ्मय के श्रेष्ठ तत्वों के साथ

पश्चिम के आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों उदात्ततत्वों की शिक्षा देते हुए देश के बालकों का चरित्र-निर्माण करना और उन में राष्ट्रप्रेम की भावना को जगाना स्वामी जी का ध्येय था।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आदर्शों और उद्देश्यों से हम सब अच्छी तरह परिचित हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

क. चिरकाल से विस्मृत हुई ब्रह्मचर्य-प्रणाली को पुनर्जीवित करना तथा उसे शिक्षा का आधार बनाना।

ख. नागरिक जीवन के कलुषित प्रभावों से दूर हटा कर छात्रों को नैसर्गिक सौंदर्य के स्वस्थ, प्रोत्साहक और प्रेरणाप्रद वातावरण में रखना तथा उन के तन, मन और आत्मा के सन्तुलित विकास के लिए अवसर प्रदान करना।

ग. छात्रों का चरित्र-निर्माण करते हुए उन में भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करना तथा सरल जीवन और उदात्त विचार एवं 'ज्ञान के लिए ज्ञान' की भावना को प्रदीप्त करना

घ. गुरु और अन्तेवासी (शिष्य) के बीच में पिता-पुत्र का सा स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करना।

ङ. विश्वविद्यालय के स्तर तक शिक्षा का माध्यम हिन्दीभाषा को रखते हुए अपनी शिक्षा-योजना में वैदिक-साहित्य और संस्कृत वाङ्मय के अध्यापन को, उस के गौरव के अनुरूप, समुचित स्थान प्रदान करना।

च. भारत की प्राचीन विद्याओं के अध्ययन के साथ-साथ आँग्लभाषा और आधुनिक विज्ञानों का अनुशीलन करना।

छ. देश भर में प्रचलित परीक्षा प्रणाली के दूषणों को दूर करना।

ज. प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुसार बिना शुल्क के शिक्षा प्रदान करना।

झ. भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन और भारतीय विज्ञानों के विषय में गवेषणा करना।

ञ. भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दी में आधुनिक ज्ञान विज्ञानों तथा प्राचीन संस्कृत विद्याओं के विषय में साहित्य निर्माण करना।

इन उद्देश्यों द्वारा हम वैदिक-संस्कृति का पुनरुज्जीवन कर सकते हैं। ये उद्देश्य किसी दल विशेष के नहीं हैं, नाहीं ये किन्हीं राजनीतिक सिद्धांतों के वशंवद हैं। इन उद्देश्यों में धर्म के वे शाश्वत और अपरिवर्तनीय तत्व निहित हैं, जो अपने स्वरूप में दैवी हैं और जो मानव के मन से उत्पन्न नहीं हो सकते।

यह सब कुछ कहते हुए मुझे भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का सहज ही स्मरण हो आता है। यह संस्कृति अनेकों क्रांतियों और विरोधों के बावजूद अभी तक जीवित है। सहस्रों संवत्सर बीत गए। सैंकड़ों साम्राज्य खड़े हुए और भूमिसात् हो गए, अनेकों सभ्यताएं उठीं और नष्ट-भ्रष्ट हो गईं। परन्तु भारतवर्ष अभी तक जीवित है। उस की संस्कृति अभी तक प्रगति कर रही है। इस भारतभूमि के हमारे उन पूर्व-पुरुषों को धन्य है, जिन के अन्दर अन्यों को आत्मसात् करने की अद्भुत शक्ति विद्यमान थी। नाना रीतियों, नाना रिवाजों, नाना परंपराओं और नाना प्रभेदों के बावजूद भी इस संस्कृति के अन्दर एक ऐसी अमर एकता है, जो देश को शक्ति प्रदान करती है और उसे अक्षुण्ण रखती है।

हमारे वैदिक ऋषियों को ही इस बात का श्रेय है कि उन्होंने जीवन के समस्त पार्श्वों का अध्ययन किया और एक समन्वय तक पहुंचे।

ऋषियों का यह विश्वास था कि जगत् की अधिकांश समस्याओं का समाधान किया जा सकता है यदि जीवन की समीक्षा अनासक्त रूप में की जाय, और तभी एक उचित समन्वय पर पहुँच सकते हैं।

हमारे प्राचीन विचारकों के मत में शिक्षा भगवान् के साक्षात्कार का एक साधन है। अदूषित ज्ञान ही ब्रह्म (ब्रह्मज्ञान) के साक्षात्कार की कुञ्जी थी। उन की सम्मति में ब्रह्मविचार ही विद्या का उच्चतम स्वरूप था। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण जी कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं
ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं
एवं यास्यसि पाँडव।
येन भूतान्यशेषेण
द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

कठोर परिश्रम और सेवा द्वारा ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है और जब ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है तो समस्त अज्ञान नष्ट हो जाता है। गीता के १८ वें अध्याय में श्रीकृष्ण जी अपने भक्तों को निर्देश करते हुए सूचित करते हैं अपना समस्त ध्यान 'ब्रह्म' में केन्द्रित करो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने में भी भगवान् का दर्शन कर सकता है। एवं प्रत्येक व्यक्ति में भी; नहीं नहीं, समस्त विश्व में भी भगवान का दर्शन कर सकता है तथा मानव जाति की सेवा कर सकता है। मानव-जाति की सेवा ही भगवान् की अर्चना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगद्गीता के समय में आध्यात्मिकता की विचारणा में परिवर्तन आ गया था। यज्ञ द्वारा भगवान् को संतुष्ट करने के पुराने विचार का स्थान निःस्वार्थ सेवा ने ले लिया था। हमारे पूर्वजों ने अनुभव कर लिया था कि प्रतिस्पर्धा का नियम जांगलिक नियम है। सहकारिता का विचार ही मानवीय संबन्धों का प्रेरक तत्व है। उन्होंने प्रेम द्वारा घृणा पर विजय पाई। सांमनस्य और सुसंवादिता के द्वारा विसंवाद पर विजय पाई। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि सब बुराइयों का मूल आकांक्षा है। कामना की अतिशयता ही हमें प्रतिस्पर्धा की ओर ले जाती है। अतएव उन महर्षियों ने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को भी संयत करने का प्रयत्न किया। अपने कार्य कलापों में संवादिता स्थापित करना और प्रतिस्पर्धा के भाव को बहिष्कृत करना ही उन के जीवन का लक्ष्य था।

यह अतिशय परितोष का विषय है कि गुरुकुल विश्वविद्यालय शिक्षा के वैदिक आदर्शों को हृदयंगम करता है और समर्पण एवं मानवता की निःस्वार्थ सेवा की भावना से प्रेरित है।

जब मैं इस स्थान पर चहुंओर दृष्टिपात करता हूँ तो मैं बहुत प्रभावित होता हूं कि हमारे देश की विचार सम्पदा और संस्कृति पर प्रकृति ने कैसा कोमल और मंगलकारी प्रभाव डाला है। अनादि काल से भारतीय लोग प्रकृति की ओर आकृष्ट होते रहे हैं। उस प्रकृति के प्रति नहीं जिस के दाँत और पंजे रक्तरंजित हैं, अपितु उस प्रकृति के प्रति जो आनन्द और उल्लास का स्रोत है, जो शांति का धाम है।

पर्वतों की उपत्यकाओं और घाटियों के शांत पावन वातावरण में ऋषि-मुनि-जन जीवन की समस्याओं पर ध्यान और चिन्तन किया करते थे। प्रकृति की शांत एकांत गोद में मेधावी शिक्षकों के निरीक्षण में तपोवन और आश्रम

स्थापित किए जाते थे। शिष्यजन व्यावहारिक जीवन की आवश्यक तैयारी उन आश्रमों में ही करते थे। प्रकृति उन के लिए केवल पृष्ठभूमि ही नहीं थी अपितु एक पूर्णतया जीवित जागरित पदार्थ था। उस की एक अपनी ही जीवन-लाला थी। वह प्राणों से परिस्पन्दित होती रहती थी। उन्होंने अनुभव किया था कि समस्त बाह्य वस्तुएं और विषय दिव्यशक्ति का ही आविर्भाव-रूप हैं। सभी पार्थिव पदार्थ एक ही सर्वनिष्ठ आत्मा से व्याप्त हैं। दैनिक जीवन के कोलाहल और चहल-पहल से दूर पर्वत की छाया मे किसी वन-प्रान्तर में वे आश्रमवासी अपनी पर्णशालाएं बना कर रहते थे। वे वहा पर यही सीखते थे कि प्रकृति एक महान शिक्षिका है। उसके पास एक संदेश है। यहा तक कि एक छोटे से छोटा पदार्थ भी हमें बड़ी से बड़ी शिक्षा दे सकता है। एक सुकवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

> 'हे नन्हे प्रसून, काश कि मैं तुम्हारे जीवन रहस्य का ज्ञान पाता। आखिर तुम क्या हो? तुम्हारे मूल की महिमा जानते ही मैं तुम्हारा समग्र रूप जान लेता। और फिर तो मुझे यह भी अवगत हो जाता कि भगवान् क्या है और मानव क्या है?'

विश्व के कुछ चुने हुये उत्तम उपहार प्रकृति की एकान्त गोद में ही मानव मस्तिष्क से निष्पन्न हुए थे।

गुरुकुल हिमालय की गोद में बसा हुआ है। यहां पर यह संसार के कोलाहलों, सरगमियों और परेशानियों से मुक्त है। मानसिक शक्तियों के विकास के लिए यहां का वातावरण आदर्श है। इस शिक्षा-सदन में अध्ययन करने वाले छात्रों को प्रकृति की मंगलकारी भावनाएं प्रभावित करती हैं।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् अब राष्ट्र का शासन-सूत्र हमारे ही हाथों में आ गया है। इस के साथ ही स्वाभाविक रूप से अनेक समस्याएं भी पैदा हो गई हैं, जिन का सन्तोषजनक समाधान हमें अभी ढूढना है। हमें अपने देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाना है, लोगों के पेट भरने है, उन्हें रहने के लिए मकान देने हैं और उन के स्वास्थ्य की भी देखभाल करनी है। परन्तु इस भौतिक-कल्याण के साथ-साथ उन के मस्तिष्क को भी हमें पोषण प्रदान करना है। संसार इस समय चौराहे पर खड़ा है। जाति, रंग तथा धर्म के भेद के कारण राष्ट्रों के पारस्परिक विरोध, संघर्ष और तनाव आदि सामान्य सी बातें हो गई हैं। संसार को इस समय सहिष्णुता और एक दूसरे को समझने वाली वैदिक भावना की आवश्यकता है। राष्ट्रवासियों को स्वयं ही मोहनिद्रा से जाग कर मानवता का नेतृत्व करना है। अब अपने तथा समाज में से बुराइयों को दूर करने का समय आ पहुंचा है। काल की गति के साथ-साथ हमें भी बदलना है तथा अपने दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन लाना है। हमें अपने अन्दर सेवा की भावना का विकास करना चाहिये, लेने की प्रवृत्ति ठीक नहीं, हमें तो दान करना चाहिये। इसी प्रकार शासन करने की प्रवृत्ति ठीक नहीं, सेवा की वृत्ति ही प्रशंसनीय है। सरकार के कन्धों पर इस समय भारी उत्तरदायित्व है। अत यह कहने की आवश्यकता नहीं कि समुचित शिक्षा पर ही राष्ट्र की प्रसन्नता तथा शान्ति निर्भर है। संसार में इस समय बड़ी-बड़ी शक्तियां विद्यमान हैं। विनाश के लिए नए-नए अस्त्र शस्त्रादि का आविष्कार हमारी कोमल भावनाओं को समाप्त कर देगा और हमारी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की जड़ें खोखली हो जाएंगी। इसलिए हमें शीघ्रातिशीघ्र

ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जो हमारी कोमल भावनाओं का विनाश न करे, प्रत्युत हमारे उदात्त गुणों को जीवित रखे तथा हमें मानवता की सेवा करने के योग्य बनाए। प्राचीन और अर्वाचीन का सुभग समन्वय ही हमें वांछित है। नवीन शिक्षा पद्धति के उत्तम तत्वों को वैदिक संस्कृति के अनुकूल बना कर हमें अभीष्ट की सिद्धि करनी होगा।

यह मानने में किसी को भी आपत्ति न होगी कि चरित्र-निर्माण ही शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य है। चरित्र-हीन बौद्धिक प्रतिभा का कोई मूल्य नहीं। समर्पण, समादर तथा भ्रातृप्रेम की भावनाओं का विकास कर के ही मानव की आत्मा तथा चरित्र का उन्नत किया जा सकता है। गुरुकुल शिक्षापद्धति इसी कारण वांछनीय है कि वह युवक विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण पर सर्वाधिक बल देती है। गुरुकुल विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के लिए चारित्रिक विकास के प्रभूत अवसर हैं क्योंकि वह नगरों की उन शिक्षा-संस्थाओं की भांति नहीं जहां पर समाज का दूषित प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है।

बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि गुरुकुल विश्वविद्यालय की उपाधियों को सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त है और समय-समय पर इसे सरकारी आर्थिक सहायता भी मिलती रहती है। हमें आशा करनी चाहिये कि सरकार को देश के विभिन्न भागों में ऐसी संस्थाएँ स्थापित करने में कोई आपत्ति न होगी जिन से गुरुकुल का प्रेम तथा सेवा का स्पृहणीय सन्देश चहुंदिशी फैल जाय। इस समय हमें अपनी मातृभूमि की सांस्कृतिक परम्परा के प्रति अपने विश्वास को सुदृढ़ करना चाहिए।

अपना यह प्रवचन समाप्त करते हुए, मैं कुछ एक वचन अपने तरुण स्नातकों के प्रति निवेदन करना चाहता हूँ। प्रिय स्नातको, आप आर्य संस्कृति के उत्तराधिकारी है। अन्धकार में आप को अपनी मशाल बराबर प्रज्वलित रखनी होगी। आप को ही जनता को सत्पथ का प्रदर्शन करना होगा। जब वे गिर जायें तो आप को ही उन्हें उठाना होगा। आप का जीवन मानव जाति की सेवा में समर्पित है। इस लिए साहस और धीरता का पाथेय ले कर संसार में आगे बढ़िये! आप की विद्या-संपदा—जो कि ऋषियों की ज्ञान संपदा है—आप को शांति और समृद्धि प्रदान करेगी। [गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के ५६ वें वार्षिकोत्सव पर १ वैशाख २०१३ को पढ़ा गया दिक्षान्त भाषण।]

हिंदी भाषांतर—शंकरदेव विद्यालंकार।

★

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाजरा मृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥
मुण्डकोपनिषद्।

यह यज्ञरूपी किश्ती बहुत ही कच्ची है। यह कदापि इस संसार सागर से पार नहीं उतार सकती। जो मूर्ख लोग इस किश्ती में बैठ कर पार जाने की अभिलाषा रखते हैं, वे बुढ़ापा और मृत्युरूपी भँवरों में फिर-फिर आकर गिरते हैं। —

चीन की गुहाओं में

डॉ. रघुवीर और श्री सुदर्शना कुमारी

तेरहवीं गुहा ह्येन-ह्रा-तुङ् अर्थात् नीलोत्पल गुहा है। यह गुहा उत्तर वेई के काल में आरम्भ की गई थी। इस गुहा में अनेक तिथियां दी गई हैं। गुहा की मुख्य मूर्ति शाक्य मुनि का मुख पूर्ण चन्द्र के समान गोल न हो कर कुछ लम्बा है। जिस से उस की शोभा बढ़ गई है। परिधान की रेखाएं ओजस्विनी हैं। यह मूर्ति उत्तर वेई की परिपक्वता, तेजस्विता, महत्ता और उदारता का सुन्दर निदर्शन है।

चौदहवीं गुहा के प्रवेश द्वार पर सिंहयुग्म रक्षा कर रहे हैं। छत ६ हाथ ऊंची है। छत में पद्मपुष्प खोदने का विचार था पर वह अधूरा ही रह गया है।

पन्द्रहवीं गुहा की पिछली भित्ति में मुख्य बुद्ध दो अर्हत् और दो बोधिसत्त्व उत्कीर्ण किए गए हैं। कला की दृष्टि से मूर्तियाँ साधारण हैं। दाईं और बाईं भित्ति पर बनी हुई बौद्ध पंचमूर्ति की तिथि शिलालेख में ६६६+५७ विक्रम दी हुई है। इस गुहा के सामने का भाग अपूर्ण छोड़ा हुआ है।

सोलहवीं गुहा खण्डित गुहा है। यह अपूर्ण है। मैत्रेय को छोड़ कर सब मूर्तियों के उत्तमांग नष्ट हो चुके हैं। छत और कुट्टिम ठीक प्रकार से नहीं बने। ऐसा प्रतीत होता है कि काम बीच में छोड़ दिया गया। भित्तियों पर तीन तिथियों के शिलालेख हैं।

सत्रहवीं गुहा वेई-अक्षर-गुहा है। यद्यपि यह गुहा विशाल नहीं किन्तु उत्तर वेई की कला की सुन्दर प्रतिनिधि है। प्रभामण्डल अति हृदयङ्गम है। इस गुहा में भी अनेक तिथि वाले शिलालेख हैं।

अठारवीं गुहा का निर्माण उत्तर वेई में हुआ और जीर्णोद्धार थाङ्-काल में। गुहा कुछ लम्बी है। बुद्ध की मूर्ति का आसन अपूर्णघटित है। इस गुहा के शिलालेखों में तीन तिथियां हैं। पहली तिथि ५३७+५७ विक्रम है। द्वार पर गरुड़ की मूर्ति उत्कीर्ण है।

उन्नीसवीं फङ्-ह्येनस्स में वैरोचन बुद्ध की सुमहती मूर्ति है। इस गुहा के सम्बन्ध में शिलालेख का वर्णन है कि थाङ् वंश के श्येन-हुङ् के तृतीय वर्ष (६७२+५७ विक्रम) में महाराज काओ-त्सुङ् ने अर्हद्-युग्म, बोधिसत्त्व युग्म, देव युग्म और वज्रधर युग्म सहित सुविशाल वैरोचन बुद्धमूर्ति के उत्कीर्ण करने का आदेश दिया। शाङ्-येन् के द्वितीय वर्ष (६७५+५७ विक्रम) द्वादश मास के ३०वें दिन यह महान् कार्य समाप्त हुआ। इस के लिए महाराणी वू ने २० सहस्र क्वान् अपने पास से दान दिये। पांच वर्ष पश्चात् विहार की स्थापना हुई। इस विहार में १४ महापण्डित जिन की प्रज्ञा गम्भीर और शील उदात्त था इस विहार में लाए गए। शिलालेख में आगे वर्णन है—'जब से यह उत्तम धर्म पूर्व में आया है तब से अब तक सात सौ वर्ष से ऊपर हो चुके। बुद्ध विहार बनाने का पुण्य अग्रगण्य है।'

१६ वीं गुहा चीन की बौद्ध कला की चरम सीमा है इस विहार निर्माण के महत्कर्म में श-चीस्स के ध्यान-आचार्य शान्-ताओ, फो-हाइ स्स के धर्माचार्य ह्वी च्येन सम्मिलित थे। निर्माण कार्य के अध्यक्ष शान् ताओ पुनीत भूमि सम्प्रदाय के महाप्रवर्तकों में से हैं।

मूर्तियां पर्वत में से खोदी गई हैं। यहां

पहाड़ी की चौड़ाई ६८ हाथ की है और गहराई ८० हाथ। वैरोचन बुद्ध की ऊंचाई २२ हाथ से ऊपर है। आसन ८ हाथ ऊंचा है। प्रभामण्डल के शिखर से भूमि तक ऊंचाई ३० हाथ है। आसन वर्गाकार है। प्रत्येक कोने पर रक्षक खड़ा है। दोनों ओर योद्धा खुदे हुए हैं। सहस्रदल कमल पुष्प के तीन दलस्तर हैं प्रत्येक दल पर एक बुद्ध खुदा है।

भगवान् बुद्ध की सुन्दर विशाल मूर्ति महत्ता, वैभव और शांति की भावना उत्पन्न करती है। शरीर ओजःपूर्ण है। खेद है कि दोनों हाथ नष्ट हो चुके हैं और दोनों घुटने भी बहुत शीर्ण हो गए हैं। प्रभामण्डल नावाकार है। मध्य में कमल, कमल के चारों ओर बौद्ध मूर्तियां और अग्नि ज्वालाएं इसके अद्भुत अलंकार हैं। यह निःसंदेह और निर्विवाद है कि बलशालिनी ओजस्विता में यह वैरोचन मूर्ति न केवल लुङ्-मन् में किन्तु यांग वंश की समस्त कला के क्षेत्र में उत्कृष्टतम मूर्ति है।

वैरोचन के बाईं ओर काश्यप और दाईं ओर आनन्द हैं। दोनों की ऊंचाई बीस हाथ से अधिक है। मुखमुद्रा शान्त और भद्रता लिए हुये है। काश्यप और आनन्द के साथ के दोनों बोधि-सत्त्व भी सौम्यता की मूर्ति हैं। किन्तु इनमें भी उत्तमांग कुछ अधिक भारी और शरीर कुछ छोटा पड़ता है। यह भेद मूर्तिकारों की दक्षता का भेद है।

दक्षिण और उत्तर की भित्ति में खुदे १८ हाथ ऊंचे वज्रधर देवों की महती मूर्तियां अजेय, अदम्य भावनाओं की व्यंजक हैं। किन्तु जो कला कौशल वैरोचन के निर्माण में दिखाई पड़ता है वह न अर्हतों में न बोधिसत्त्वों में और न इन मूर्तियों में है। प्राचीन समय में मूर्तियों के ऊपर वितान रहे होंगे। भित्ति में स्तम्भों के लिए छिद्र बने हुए हैं।

बीसवीं गुहा औषध योग गुहा है। द्वार के दोनों ओर औषधों के योग दिए हुए हैं।

२१ वीं गुहा कू-याङ्-तुङ् कहलाती है। शिलालेख के अनुसार राष्ट्र की समृद्धि के लिए इस गुहा का निर्माण किया गया था। गुहा आयताकार है। छत २० हाथ ऊंची है। कुट्टिम पर दो हाथ मिट्टी भरी गई। ४ हाथ ऊंचे आसन पर शाक्य मुनि विराजमान हैं। आसनों को सिंहों ने उठाया हुआ है पुरानी मूर्ति का जीर्णोद्धार करते हुए इतना अधिक लेप और रङ्ग चढ़ाया गया है कि इस की मौलिक शोभा सर्वथा मारी गई। मुख्य बुद्ध की ऊंचाई नौ हाथ है। मुख और परिधान की रेखाओं में मौलिक शोभा है। यदि मिट्टी का लेप ऊपर न किया जाता और उस पर रङ्ग न पोते जाते तो मूर्ति की आभा पूर्ण रूप में दृष्टिगोचर हो सकती

इस गुहा के शिलालेख केवल तिथियों और अन्य ऐतिहासिक सूचना के लिए ही प्रसिद्ध नहीं किन्तु सुलेख के लिए भी प्रथित हैं। हमने परस्पर भिन्न सौन्दर्यमय सुलेख की दृष्टि से ही २० लेखों की छापें ली हैं। चीनी लेख सौंदर्य विशारदों की दृष्टि से इन का मूल्य बहुत अधिक है।

श-खु स्स—यह गुहा पूर्वीय पहाड़ी में बनी है। बुद्ध आसन्दी में बैठे हैं। रूपाकृति भव्य है। यह मूर्ति थाङ् कला की उत्तम कृति मानी जाती है। बुद्ध की पीठ पीछे एक यवनिका बनी हुई है जिसमें भारत की गुप्तकला की छाया झलक रही है। गुहा की भित्तियों पर 'वज्रच्छेदिका' सूत्र उत्कीर्ण है तथा एक सहस्र छोटी बुद्ध मूर्तियां बनी हुई हैं। छत में कमल, उड़ती हुई

अप्सरायें और मेघ शोभायमान हैं। कला के शत्रु व्यापारियों की लोलुपता से मूर्तियों के उत्तमांग लुप्त हैं।

हमको लुङ्मन में जितना समय लगाना चाहिए था उतना तो न लगा किन्तु जो भी थोड़ा समय मिला उसमें लुङ्-मन् की मनोरमता को नेत्रों द्वारा लगातार एकाग्र ध्यान से पार करते गए और हृदय में बद्धप्रतिष्ठित करते गए कि जीवन के शेष वर्षों तक इस रमणीयता का परिमल साथ रहे। यद्यपि लुङ्-मन् चीन की भूमि पर स्थित है और इसका श्रेयस् और गर्व चीनियों का है और होना चाहिये तथापि लुङ्-मन् भारत की आत्मा का ही तो खण्ड है। यहां चीनी प्रभाव और परिवर्तन अवश्य है किन्तु मूल और स्थूल दृष्टि से, आध्यात्मिक तथा कला की दृष्टि से भारत का इसमें हाथ है। लुङ्-मन में भारतीय वैभव के जो दर्शन हमको हुए उनसे हम कृतकृत्य हो कर कोयले की खान की काली धूल से बचते हुये अपने निवास स्थान पर लौट आए।

जिस रस और आनन्द का अनुभव, जिस प्राचीन और नवीन काल की एकता की भावना आज हुई वह पहले कभी न हुई थी। हम को ऐसा लगा जैसे कि हम पन्द्रह सौ वर्ष पार कर पार्थिव शरीर और नेत्रों सहित गुप्तकाल में और गुप्तराष्ट्र में पदार्पण कर गए हों। यह अद्भुत और अविस्मरणीय है और रहेगा।

—

आत्मा अमर है

न जायते म्रियते वा विपश्चित् नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य: शश्वतो ऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

आत्मा अजन्मा है, अमर है सदा से है, यह न उत्पन्न होता है, और न मरता है। जो उत्पन्न होता है और मरता है, वह केवल शरीर है। शरीर को मार भी डालो तो आत्मा नहीं मरता।

आत्मज्ञानी होने के लिये केवल इस बात को सुन लेना या कह देना पर्याप्त नहीं है। जो मनुष्य आत्मा को शरीर से पृथक् अनुभव करने लगे, और जिस की जीवनचर्या का आधार ही अनुभव हो जाय, वस्तुतः आत्मज्ञानी है।

कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करो, परन्तु उस में लिप्त न हो। कर्म करते हुए उस में लिप्त न होना उसी मनुष्य के लिए सम्भव है, जो शरीर में रहता हुआ भी अपने आप को शरीर में लिप्त नहीं होने देता, अपितु उस का स्वामी बन कर रहता है।

★

असंगत वर्ग के शब्द

श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

इस लेख में मैं निम्न लिखित अंग्रेजी शब्दों के (जो प्रायः पर्यायवाची समझे जाते हैं) सूक्ष्म भेद का विवेचन करते हुए उनके उचित संस्कृत और हिन्दी समानार्थक शब्दों का निर्देश करना चाहता हूँ।

Absurd, foolish, silly, preposterous, irrational, monstuous, nonsensical, paradoxical, ridiculous, Unreasonable.

इन शब्दों की इतने अंश में समानता है कि वे बुद्धिविरुद्धता और अतएव उपहासजनकता का निर्देश करते हैं किन्तु इन का परस्पर अन्तर पर्याप्त है जैसे कि निम्न विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा जो Webster's Dictionary of Synonyms और Standard Hand book of Synonyms, anonyms and prepositions by James Fernald आदि प्रामाणिक अंग्रेजी कोषों के आधार पर किया जा रहा है। इन सूक्ष्म भेदों को ध्यान में रखते हुए हम इन के लिये समुचित संस्कृत और हिंदी के समानार्थक शब्दों के निर्देश का प्रयत्न करेंगे।

Absurd = असङ्गतम्

ऐब्सर्ड शब्द के अन्दर सामान्यबुद्धि और तर्क विरुद्धता का भाव प्रधान है। इस के विषय में जेम्सफर्नाल्ड ने ठीक ही लिखा है कि—

'That is absurd which is contrary to the first principle of reasoning.'

अर्थात् ऐब्सर्ड वह कहलाता है जो तर्क के प्रथम वा मौलिक सिद्धान्तों के ही विरुद्ध हो। इस के लिये प्रादेशिक भाषाओं के कोषों में निम्न शब्दों का प्रयोग पाया जाता है—

बंगला—अयौक्तिक, हास्योद्रेककारी।

कन्नड़—असम्बद्ध, असंगत, अविवेक, हास्यास्पद।

मलयालम—अनर्थकमाय, न्यायविरुद्धमाय, अयुक्तम्, अनुपपन्नम्, युक्तिविरुद्धमाय, युक्तिहीनमाय (आय—विशेषणों मे प्रयुक्त प्रत्यय है)।

तेलुगु—असंगतमैन-अयुक्तमैन न्यायविरुद्धमैन (ऐन—विशेषणों में प्रयुक्त प्रत्यय है)।

आसामी—असंगत, युक्तिविरुद्ध।

मराठी—असमंजस, अयोग्य, हास्यास्पद।

गुजराती—असंगत, अविवेकी, मूर्खाई।

हम ने अपने कोष में इस के लिये संस्कृत में असंगतम्, अयुक्तम् और हिन्दी में भी असङ्गत और अयुक्त शब्दों का प्रयोग किया है जो शब्द कन्नड़, मलयालम, तेलुगु, आसामी और मराठी कोषों में भी पाये जाते हैं। बंगला में प्रयुक्त अयौक्तिक शब्द अयुक्त के ही समानार्थक है।

Foolish = मौर्ख्यपूर्णः, मूर्खः

अंग्रेजी के फुलिश शब्द के लिये संस्कृत में मौर्ख्यपूर्णः (विचारादिः) अथवा मूर्खः (पुरुषः) और हिन्दी में मूर्खतापूर्ण तथा मूर्ख शब्दों का प्रयोग सर्वसम्मत है जिस के विवेचन की आवश्यकता नहीं।

Silly—निष्प्रयोजनम्, बालिशः, मूढः

अंग्रेजी के सिल्ली शब्द के विषय में वेब्स्टर

के कोष में लिखा है—

That is silly which seems witless, pointless or futile.'

अर्थात् सिल्ली वह कहलाता है जो बुद्धि-मत्तारहित अथवा निष्प्रयोजन हो। इस के लिये प्रादेशिक भाषा कोषों में निम्न शब्द पाये जाते हैं—

बंगला—मूर्ख, निर्बोध, अविज्ञ, असङ्गत।
कन्नड़—मूढ़, अविवेकी, बाललील।
तेलुगु—आविवेक, बुद्धिहीन।
मलयालम—मूढमाय, बालशमाय, मनोबल-मिल्लात्त।
आसामी—मूर्ख, निर्बोध।
मराठी—मूर्ख, अविचारा, बुद्धिचा मन्द।
गुजराती—नादान, मूर्ख।

हमने सिल्ली के लिए पुरुष के लिए मूढ़ः, बालिशः इन शब्दों का संस्कृत में और मूढ़ और अविवेकी शब्दों का हिन्दी में प्रयोग उचित समझा है। विचारादि के विशेषण रूप में प्रयुक्त सिल्ली के लिए निष्प्रयोजन शब्द का प्रयोग अर्थ-दृष्टि से किया जा सकता है।

Ridiculous=उपहासजनकम्

अंग्रेजी के रिडिक्युलस शब्द के लिये उपहासजनक शब्द का प्रयोग सर्वत्र प्रचलित और सर्वसम्मत है अतः उस के विवेचन की आवश्यकता नहीं।

Monstruous=अस्वाभाविकम् घोरम्

अङ्गरेज़ी के 'मौन्स्ट्रुअस' शब्द के विषय में जेम्स फर्नाल्ड ने लिखा है कि 'Monstruous refers to some thing freakish or unnatural. इस लिये उस के लिये अस्वाभाविक और घोर इन शब्दों का प्रयोग हम ने उचित समझा है। प्रादेशिक भाषाओं के कोषों में से बङ्गला में अस्वाभाविक शब्द का और कन्नड़, तेलुगु और गुजराती भाषाओं में घोर शब्द का प्रयोग पाया जाता है। मराठी, मलयालम और आसामी कोषों में घोर के पर्यायवाची भयङ्कर, भीमाकृति और भयानक शब्दों का प्रयोग है।

Preposterous=सुस्पष्टमसङ्गतम्,
अत्यन्त असङ्गत

अङ्गरेज़ी के प्रिपोस्टरस् शब्द के विषय में वेब्स्टर ने लिखा है कि "Preposterous is glaringly absurd." अर्थात इस में अत्यन्त और स्पष्टतौर पर असङ्गतता का भाव पाया जाता है इस लिए हम ने इस के लिए संस्कृत में सुस्पष्टमसङ्गतम् और हिन्दी में अत्यन्त असङ्गत शब्द का प्रयोग उचित समझा है। इस के लिए प्रादेशिक भाषाओं के कोषों में निम्न-लिखित शब्दों का प्रयोग पाया जाता है—

बङ्गला—असंगत, भ्रान्त, असंभव।
कन्नड़—स्वभावद विरुद्धवाद, विवेकके विपरीतवाद, अतिक्रमवाद, असम्बद्धवाद (आद-प्रत्यय है)
तेलुगु—विपरीतमैन, असंगतमैन, अस्वाभाविकमैन, अक्रममैन, अयुक्तमैन (ऐन्-प्रत्यय है)
मलयालम—विपरीत क्रममाय, अयुक्तमाय।
मराठी—विपरीत, विसंगत, अगदी अयुक्त।
आसामी—असङ्गत, असम्भव, अस्वाभाविक।
गुजराती—विपरीत, अनर्थक।

इन में से बङ्गला, तेलुगु, और आसामी में असङ्गत और मराठी में विसङ्गत शब्द का प्रयोग है किन्तु उस का ऐब्सर्ड से भेद प्रदर्शन करने के लिए हम ने अत्यन्त असङ्गत शब्द का

प्रयोग उचित समझा है। अधिकतर प्रादेशिक भाषाकोषों में विपरीत शब्द का भी प्रयोग इसके लिये किया गया है जिसे ग्रहण किया जा सकता है।

Irrational = युक्तिविरुद्धम् , अयौक्तिकम्

अंग्रेज़ी के इरैशनल् शब्द का अर्थ युक्ति विरुद्ध है अतः उसके लिये युक्तिविरुद्धम् और अयौक्तिकम इन शब्दों का संस्कृत में और युक्तिविरुद्ध शब्द का हिन्दी में हमने अपने कोष में प्रयोग किया है। प्रादेशिक भाषाओं के कोषों में से बंगला और मराठी में अयौक्तिक शब्द का और तेलुगु में युक्तिविरुद्ध शब्द का प्रयोग पाया जाता है। अन्य कोषों में भी इसके साथ मिलते-जुलते शब्द हैं अतः इसके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं।

Paradoxical = अंग्रेज़ी के पैराडौक्सिकल् शब्द का अर्थ निर्देश करते हुए जेम्स फर्नाल्ड ने लिखा है—"A paradoxical statement appears at first thought contradictory or absurd, while it may be really true. अर्थात् पैराडौक्सिकल् स्टेटमेन्ट प्रथम विचार में परस्पर विरुद्ध और असंगत प्रतीत होती है जब वस्तुतः यह सत्य हो सकती है। अतः पैराडौक्स के लिये अयुक्ताभास अथवा असत्याभास शब्द का प्रयोग सर्वथा उचित है। प्रादेशिक भाषाकोषों में कन्नड़ में विरोधाभास, तेलुगु में असत्याभास, मराठी में विरोधाभास, असत्याभास और बंगला में कूटाभास शब्द का प्रयोग इसके लिये पाया जाता है। अतः Paradoxical के लिये असत्याभासात्मक अथवा अयुक्ताभासात्मक शब्दों का प्रयोग करना ठीक होगा।

Nonsensical = अनर्थकम्

अंग्रेज़ी के नौन सेन्सिकल् शब्द के विषय में जेम्स ने अपने कोष में लिखा है कि "Sounds Without meaning as F-fi-fo-fum' are non sensical." अर्थात् अर्थरहित शब्द ध्वनियों के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है इस लिये हम ने उसके लिये 'अनर्थक' शब्द का प्रयोग अपने कोष में किया है। प्रादेशिक भाषाओं में से बंगला, तेलुगु, मलयालम, और और गुजराती कोषों में इस के लिये 'अनर्थक' शब्द का और मराठी में निरर्थक शब्द का प्रयोग पाया जाता है। सर्वसम्मत प्रयोग होने के कारण इसके अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं।

Un-reasonable = युक्तिविरुद्धम् , अयौक्तिकम् , अयुक्तम्

अंग्रेज़ी का अनरीज़नेब्ल शब्द इरैशनल् (irrational) का ही पूर्णतया पर्यायवाची है अतः उसके लिये युक्ति विरुद्ध, अयौक्तिक अथवा अयुक्त इन शब्दों का प्रयोग करना ठीक है।

---

० अप्रैल १९५५ से दिसम्बर, १९५५ तक कुल ६ लाख ६५ हजार ४०० टन भारतीय जूट के तैयार माल का निर्यात हुआ। १९५४ के इन्हीं महीनों में ६ लाख ५२ हजार ७०० टन जूट के तैयार माल का निर्यात हुआ था।

० हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा त्रिपुरा में सड़कें बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने २१ लाख रु० स्वीकृत किये हैं।

वेद में स्त्रियों की शिक्षा

श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति

पहले बालिकाओं की भविष्य जीवन की तैयारी अर्थात् शिक्षा को लीजिये। वेद में भविष्य के लिए तैयारी के जीवन को, विद्यार्थी जीवन को ब्रह्मचर्य काल कहा गया है। एक विद्यार्थी के जीवन का आदर्श क्या होना चाहिये यह ब्रह्मचर्य शब्द की रचना को देखने से ही साफ हो जाता है। पर इस समय हमें इस शब्द के अर्थों की बारीकियों में जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं अधिक स्पष्टता से इस सम्बन्ध में वेद के अभिप्राय को आप के सामने रखना चाहता हूँ। अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य सूक्त (अथ० ११। ५) विद्यार्थी का शिक्षा काल किन परिस्थितियों में बीतना चाहिये, शिष्य को कैसे गुरुओं से शिक्षा मिलनी चाहिये, शिष्य और गुरु का पारस्परिक सम्बन्ध किस तरह का रहना चाहिये तथा विद्यार्थी को अपने शिक्षाकाल में क्या-क्या पढ़ना चाहिये इन सब बातों को बहुत ही सुन्दर ढंग से बताता है। ब्रह्मचर्य सूक्त में वर्णित इन सब बातों को यहां बता सकना संभव नहीं है। वहां पर विद्यार्थी को पढ़ाना क्या-क्या चाहिये इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है सिर्फ उसे ही थोड़े में बता कर मैं सन्तोष करूंगा। इस सूक्त के चौथे[1] मन्त्र में कहा गया है कि विद्यार्थी को चाहिये कि वह अपने अन्दर ज्ञान की आग को सदा प्रज्वलित रखे। उसे प्रज्वलित करने के लिये वह उस में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीन लोकों की समिधा बना कर डालता रहे अर्थात् इन तीन लोकों में—विश्व भर में—पाये जाने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में सब विद्या-विज्ञानों को वह सीखता रहे। इस विद्या-प्राप्ति के साथ-साथ उसे चाहिये कि वह तीन बातों का ध्यान और रखे। एक तो यह कि वह हर वक्त आलस्य से रहित हो कर मुस्तैद, चौकन्ना, जागरुक, कटिबद्ध (मेखलाधारी) रहे। दूसरे उसे प्रतिदिन शारीरक व्यायाम (श्रम) करते रहना चाहिये। तीसरे उसे अपना जीवन तपस्वी अर्थात् सादा और कष्ट-सहिष्णु बनाना चाहिये। उसी सूक्त में यह भी आदेश कर दिया गया है कि विद्यार्थी को भौतिक विद्या-विज्ञानों के साथ-साथ आत्मा-परमात्मा के ज्ञान या ब्रह्मविद्या को भी पूरी तरह सीखना चाहिये और इस प्रकार अपने को भविष्य जीवन के लिये सब तरह से तैयार और योग्य बना लेना चाहिये। उसी सूक्त में आगे चल कर कहा गया है कि कन्या को भी ब्रह्मचर्य का जीवन बिता कर ही विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये[1]। कन्या के ब्रह्मचर्य से जीवन बिताने का अभिप्राय है कि वह ब्रह्मचर्य के कर्तव्य कर्म को पूरा करे अर्थात् जो कुछ ब्रह्मचारी के लिये जानना और करना आवश्यक है उसे जाने और करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्त में बालिकाओं की शिक्षा पर भी उतना ही बल दिया गया है जितना कि बालकों की शिक्षा पर दिया गया है। अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड में तो इस विषय को सर्वथा ही स्पष्ट कर दिया गया

१ इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयो-
तान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥
अ० ११. ५. ४।

१ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अ. ११. ५. १८।

है। उस काण्ड में स्त्री और पुरुष के विवाहित जीवन के कर्तव्य कर्मों का वर्णन किया गया है। वहां यह भी बताया गया है किस योग्यता के स्त्री और पुरुष को विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये। उसी काण्ड के प्रथम सूक्त का छठा मन्त्र 'चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनं द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात सूर्या पतिम्[1]' है। इस मन्त्र में कन्या के माता-पिता को सम्बोधन कर के कहा गया है कि उन्हें चाहिये कि जब उन की कन्या विवाहित हो कर पति के घर में जाने लगे तो उसे दहेज दें। पर वह दहेज कैसा ? 'चित्ति' अर्थात् दिमागी-शक्ति उस में गदैले-तकिये आदि की जगह हो, 'चक्षु' अर्थात् चीजों की गहराई में जाकर ध्यान से देखने की शक्ति उस में अञ्जन अर्थात् सुरमा आदि शृङ्गार की चीजों के स्थान में हो और द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में आने वाले सारे जगत् का ज्ञान उस में 'कोश' अर्थात् रुपये पैसे की जगह हो। यह मन्त्र तो यहां तक बढ़ता है कि माता-पिता को चाहिये कि वे अपनी कन्या को दहेज भी दें तो वह ज्ञान का दहेज हो। यही दहेज वस्तुतः आवश्यक दहेज है। दूसरे दुनियादारी के दहेज कोई दे सकें तो दे दें न दे सकें तो न दें। इस की कोई विशेष चिन्ता नहीं। पर ज्ञान का दहेज तो कन्या को मिलना ही चाहिये। ऋग्वेद[2] में भी ऐसा ही उपदेश है। यह मन्त्र सुन लेने के पीछे वेद में स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में क्या आदेश है इसे दिखाने के लिए किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर इस सम्बन्ध में कुछ और प्रमाण भी दे देना अनुपयुक्त न होगा।

वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में स्त्री से इस प्रकार की बातें कही गई और प्रार्थना से की गई हैं कि 'हे पत्नी तू हमें ज्ञान का उपदेश कर[3]' 'पति को धन कमाने के ढङ्ग बता[4]' 'तू सब प्रकार के कर्मों का ज्ञान रखती है,[5]' तू सब कुछ जानने वाली हमें धनधान्य की पुष्टि दे,[6]' तू हमें अपनी बुद्धियों से धन दे,[7]' 'तू हमारे घर की प्रत्येक दिशा में ब्रह्म अर्थात् वैदिक ज्ञान का प्रयोग करे[8]'। इन सब वचनों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद की सम्मति में प्रत्येक स्त्री को विवाह से पहले जहां तक हो सके सब प्रकार के ज्ञान प्राप्त कर लेने चाहियें ताकि वह अपने गृहस्थ जीवन में उन से यथायोग्य उपयोग ले सके।

इस प्रकार हमने देखा है कि वेद का धर्म बालकों की तरह ही बालिकाओं की शिक्षा पर भी पूरा बल देता है और कहता है कि उन्हें भी बालकों की तरह संसार का प्रत्येक विज्ञान और प्रत्येक विद्या सिखाई जानी चाहिये।

विवाहित जीवन

अब मैं वैदिक धर्म के अनुसार विवाहित

---

१. अ० १४. १. ६।

२. ऋग० १०. ८५. ७।

३. त्वं विदथमा वदासि। अ० १४. १. २०।

४. पतिं देवि राधसे चोदयस्व। अ० ७. ४६. ३।

५. देवीं सुकृतं विद्मनापसम्। अ० ७. ४७. १।

६. आद्य रायस्पोषं चिकितुषी ददातु। अ० ७. ४७. २।

७. यास्ते राके सुमतयः सुपेशसः
याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि
सहस्रापोषं सुभगे रराणा॥
अ० ७. ४८. २.।

८. ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्मपूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः। अ० १४. १. ६४।

जीवन में स्त्री की क्या स्थिति है इसे आप की सेवा में उपस्थित करूंगा। इस सम्बन्ध में हमें पहले यह देख लेना चाहिये कि विवाहित जीवन में प्रवेश करने के समय वर और वधू की आयु क्या होनी चाहिये। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए वर और वधू का एक वार्तालाप ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १८३ सूक्त में दिया गया है। वहां दोनों ओर से एक दूसरे को युवा युवती, पुत्रकाम और पुत्रकामा[1]। इन शब्दों से सम्बोधन किया गया है। जिस से स्पष्ट प्रकट होता है कि वेद की सम्मति में उन्हीं स्त्री-पुरुषों को विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये जो युवा अर्थात् जवान हो चुके हों और जिन में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा उत्पन्न होने लग गई हो। इस प्रकार वेद बाल-विवाह की जड़ पर ही कुल्हाड़ा रख देता है। इसी प्रकार गृहस्थ में प्रवेश करते हुए वर-वधू के पारस्परिक वार्तालाप में या दूसरों द्वारा उन के सम्बोधन में वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में प्रयुक्त किये गये पतिकामा, जनिकामः[2] आदि विशेषण भी इसी बात का उपदेश देते हैं कि स्त्री और पुरुष का विवाह उस समय होना चाहिये जब कि उन के अन्दर एक दूसरे के लिए चाह पैदा होनी आरम्भ हो जाये। यह चाह यौवन में ही स्त्री-पुरुष में उत्पन्न होती है। अतः दोनों का विवाह युवावस्था में होना ही स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में एक बात और देखने योग्य है। अथर्ववेद का १४ वां कांण्ड तथा ऋग्वेद का १०. ८५ सूक्त जो कि स्त्री और पुरुष के विवाहित जीवन के कर्तव्यकर्मों और धर्मों का प्रतिपादन करते हैं कन्या को कन्या या इस के पर्यायवाची शब्दों से स्मरण नहीं करते। वहां उस के लिये 'सूर्या' शब्द का प्रयोग करता है। इसी प्रकार वहां आरम्भ में ही वरों के लिये 'आदित्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अब यदि हम, ऋषि दयानन्द ने पुराने शास्त्रों के आधार पर वैदिक विद्यार्थी जीवन के—ब्रह्मचर्य के—जो तीन भेद किये हैं उन के आधार पर 'आदित्य' और 'सूर्या' शब्द का अभिप्राय समझना चाहें तो 'आदित्य' वह पुरुष कहलाता है जिसने ४८ वर्ष की आयु तक कभी स्वप्न में भी गन्दा विचार अपने मन में उत्पन्न नहीं होने दिया और जो अपनी जीवनी शक्ति का एक कतरा भी अपने शरीर से बाहर न होने देकर अपने दिमाग को विद्याओं से भरता रहा तथा योगाभ्यास से अपनी आत्मा उच्च और पवित्र बनाता रहा हो। ऐसा पुरुष आदित्य इस लिये कहलाता है कि वह किसी से दबता नहीं और संसार के अज्ञान और मिथ्या विश्वासों के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता रहता है जिस प्रकार कि यह भौतिक आदित्य-आकाश में चमकने वाला सूर्य-किसी से दबता नहीं और संसार के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता रहता है। इसी प्रकार जो बालिका २४–२५ साल की आयु तक कभी स्वप्न में भी अपने को अपवित्र न करती हुई अपने शरीर दिमाग और आत्मा को उन्नत करती है उसे आदित्या-ब्रह्मचारिणी कहा जाता है। सूर्य आदित्य का ही दूसरा पर्याय है। इस प्रकार वर को 'आदित्य' और वधु को 'सूर्या' अर्थात् आदित्या कहने का अभिप्राय यह है कि वेद की सम्मति में आदर्श विवाह यह है जो कि आदित्य ब्रह्मचारी बालक और आदित्या ब्रह्मचारिणी कन्या में सम्पन्न होता है। जो लोग उस ऊंचे आदर्श तक नहीं पहुंच सकते उन के लिये 'वसु' और 'रुद्र' ब्रह्मचर्य के निचले दो विकल्प हैं।

---

१. ऋग्० १०. १८३. १, २।
२. अ० २. ३०. ५।

कम से कम वसु ब्रह्मचर्य तो प्रत्येक बालक और बालिका का पूरा करना चाहिये। अर्थात् कम से कम २४–२५ वर्ष के ब्रह्मचारी पुरुष और १६-१७ वर्ष की ब्रह्मचारिणी कन्या से कम आयु के बालक और बालिकाओं का विवाह नहीं होना चाहिये। इस से कम आयु में विवाह करना पाप गिना गया है। लोग कहेंगे, तुम्हारा आदित्य ब्रह्मचर्य की कल्पना एक निरी स्वप्न जगत की कल्पना सी है—एक न हो सकने वाली बात है। कभी इतनी ऊंची आयु तक भी बालिक और बालिकाएं अपने को इतना पवित्र, कि स्वप्न में भी बुरे विचार पैदा न हों, रख सकते है ? हम इतना ही कहना चाहते हैं कि कमज़ोर निश्चय लोगों को प्रत्येक नई बात प्रायः अशक्य लगा करती है। ससार की प्रायः सभी बड़ी बड़ी लहरें प्रारम्भ में अधिकांश लोगों को असम्भव लगती रही हैं। पर दृढ़ निश्चय वाले लोग उन के अनुसार बहुत कुछ कर दिखाते रहे हैं। प्रारम्भ में कौन समझता था कि सोशलिज्म और और बौल्शेविज्म भी सफल हो सकेंगे। पर आज संसार का एक बड़ा भाग उन के आगे सिर झुका रहा है। वैदिकधर्म का आदित्य ब्रह्मचर्य का आदश भी पूरा हो सकता है यदि हम में इस के लिये प्रेम और निश्चय की दृढ़ता हो। लोग कहते हैं कि आर्यसमाज की आवश्यकता नहीं रही। मैं तो कहता हूं, जब तक वेद का यह आदित्य ब्रह्मचर्य का आदर्श पूरा नहीं हो जाता—जब तक हम अपने बालक और बालिकाओं के लिये ऐसी परिस्थितियें पैदा नहीं कर सकते जिन में उन्हें आदित्य ब्रह्मचर्य की अवधि तक स्वप्न में भी पवित्र रहते हुए अपने शरीर, मन और आत्मा को सब प्रकार से योग्य बनाने का अवसर मिल सके तब तक, यदि और बातों को छोड़ भी दें तो भी, आर्यसमाज की संसार को आवश्यकता है। आर्य-समाज को अपने इस भारी कर्तव्य को समझना चाहिये।

वेद में वर-वधू के विवाह की आयु की अवधि दिखाने के पश्चात् हम यह दिखाना चाहते हैं कि वैदिक धर्म में उन्हीं स्त्री पुरुषों का विवाह सम्बन्ध हो सकता है जिन्होंने एक दूसरे को भले प्रकार जान लिया और देख लिया है। ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १८३ वें सूक्त में विवाह करने की इच्छा वाली वधू अपने भावी पति को सम्बोधन करके कहती है—'हे वर ! मैंने अपने मन से अच्छी प्रकार तुम्हें जान लिया है, तुम बहुत अच्छे ज्ञानी हो और गुरुकुल में तप का—सादगी और संयम का—जीवन व्यतीत करके आये हो और तुम्हें सन्तान की कामना है, आइये हम दोनों मिल कर सन्तानोत्पत्ति करें[1]।' इसी प्रकार वर-वधू से कहता है—'हे वधू ! मैंने तुम्हें अपने मन से जान लिया है, तुम उच्च गुणों वाली युवती हो और मुझे चाह रही हो, तुम्हें सन्तान की कामना भी है, आओ हम मिल कर सन्तानोत्पत्ति करें[2]।'

१. अपश्य त्वा मनसा चेकितानं
तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः
प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥
ऋग्० १०. १८ ३. १।

२. अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां
स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः
प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥
ऋग्० १०. १८. ३. ५।

★

पीलिया रोग

श्री रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री

पीलिया रोग क्या है ?

इस रोग में रक्त में पित्त अपने सामान्य प्रमाण से अधिक हो जाता है, जिस के कारण त्वचा में और श्लैष्मिक-कलाओं में पित्त का संचय होने लगता है। इस का परिणाम यह होता है कि रोगी की आँख, त्वचा, नाखून आदि बाह्य आकृति पीली हो जाती है। किन्हीं अवस्थाओं में उसे दृश्य वस्तु भी पीली दिखाई देती है, मूत्र हल्दी के रंग की तरह पीला हो जाता है। पित्त का निःसरण आन्त्र में न होने से पुरीष का वर्ण सफेद हो जाता है और बदबूदार कीचड़ जैसा मल-निःसरण होता है। आयुर्वेद की भाषा में इस रोग को 'कामला' और अंग्रेजी में 'जॉण्डिस' कहेंगे। चरक ने कोष्ठाश्रित कामला के लक्षणों में कहा है कि नेत्रों का वर्ण हल्दी का-सा, त्वचा-नख व आकृति का वर्ण भी हल्दी का-सा होता है। पुरीष-मूत्र लाल-पीले से होते हैं। देह का वर्ण बरसाती मेंढक सदृश होता है। चरक ने आगे शाखाश्रित कामला की चिकित्सा के प्रसंग में कहा है कि—जो कामला का रोगी तिलकल्क के सदृश श्वेत वर्ण के मल का निःसरण करता है वहाँ कफ द्वारा मार्ग अवरुद्ध हुआ जानना चाहिए। शाखास्थित पित्त के नाश के लिए वहाँ कफहर चिकित्सा अर्थात् अवरुद्ध मार्गों को खोलने की होनी चाहिए जिस से पित्त का निःसरण पित्त-नलिकाओं द्वारा पक्वाशय में होने लगे ; क्योंकि कफ के नाश से अवरुद्ध मार्ग खुल जाता है और पित्त अपने स्रोतों में स्वयं गति करने लगता है जिस से मल का वर्ण स्वाभाविक पीला हो जाता है। कामला के हेतु और सम्प्राप्ति में आयुर्वेद व एलोपैथी—दोनों का एक मत यह है कि वेगों के रोकने से अर्थात् पित्तस्राव का वेग अपने मार्ग में अश्मरी-कैन्सर, शोथ या कफ द्वारा अवरुद्ध हो जाने से वह रुका हुआ पित्त मार्गावरोधवश रक्तवाहिनियों द्वारा चूस लिया जाता है, जिस से रक्त में पित्त की अधिकता हो जाती है। इस प्रकार वह पित्त स्वस्थान से बाहर फेंका जाकर पुरुष के नेत्र, मूत्र, त्वचा का वर्ण तो हल्दी के सदृश कर देता है लेकिन आन्त्र में उस का श्रवण न होने से मल का वर्ण श्वेत ही रहता है। क्योंकि पित्त के शाखाओं (रक्त आदि धातुओं तथा त्वचा, नेत्र, नख) में आश्रित होने के कारण उस की आन्त्र (कोष्ठ) में अल्पता हो जाती है।

चरक के उक्त लेख से विदित होता है कि चरक ने कामला के दो भेद किए हैं—(१) कोष्ठाश्रित कामला जिस में पुरीष का वर्ण पीला व लाल होता है। इस में पित्त का स्राव आन्त्रों (कोष्ठ) में तो होता ही है लेकिन पित्ताधिक्य के कारण वह पित्त रक्त में भी परिभ्रमण करता है और (२) शाखाश्रित कामला जिस में पित्त का स्राव पित्तनलिकाओं के अवरोधवश कोष्ठ में न हो कर उस की गति रक्तादि शाखा-मार्गों में होने लगती है और इस प्रकार पुरीष का वर्ण श्वेत रहता है। एलोपैथी में भी इस के समान ही कारण-भेद की दृष्टि से कामला के मुख्य दो भेद किए हैं—(१) अर्थात् इस में वैकृत पित्त की रक्ताभिसरण में अधिकता होती है अथवा रक्त में पराश्रयी जीवों की उपस्थिति के कारण रक्त-कोषों के निरन्तर टूटने से उस का रंजक पित्त रक्ताभिसरण में स्वतन्त्रतया परिवहन करने लगता है जो परिणामस्वरूप नेत्र,

त्वचा, नख, व श्लैश्मिक कलाओं में पीतता उत्पन्न करता है लेकिन मल को श्वेत नहीं करता क्योंकि इससे पित्तनलिकाओं में अवरोध नहीं होता अपितु रक्त में पित्त की उपस्थिति विषद्रव्य द्वारा रक्तकोषा के टूट जाने से उसके रंजकपित्त के रक्ताभिसरण में स्वतन्त्रतया गति करने से होती है। इसे कोष्ठाश्रित कामला कहना चाहिए। एलोपैथी में कामला का दूसरा भेद (अवरोधजन्य) है। इसमें पित्तनलिकाओं में अवरोध होने से पित्त का स्राव कोष्ठों में नहीं होता है और परिणामतः उसका परिवहन रक्तादि शाखाओं में होनेलगता है। इससे पुरीष में पित्त के न मिलने से उसका रंग श्वेत ही रहता है। इसे शाखाश्रित कामला कहना चाहिए। पित्तनलिकाओं के अवरोध के अनेक कारण हैं, उसके अनुसार इस अवरोध जन्य कामला के कई प्रभेद हो जाते हैं—इसका सब से पहला और प्रमुख प्रभेद पित्तनलिकाओं का प्रदाहजन्य शोथ है उसे प्रदाह-शोथजन्य कामला कहते हैं।

प्रदाह शोथजन्य कामला—यह कामला के अन्य सब प्रभेदों की अपेक्षा अधिक होता है। इसमें पित्तनलिकाओं में जीवाणुओं के संक्रमण से प्रदाहजन्य शोथ हो जाता है जिससे नलिकाओं का आभ्यन्तर मार्ग तंग व संकीर्ण हो कर अवरुद्ध भी हो जाता है। पित्तनलिका का मुंह आन्त्रों के निकट सम्पर्क में होने से आन्त्रों के जीवाणुओं का संक्रमण पित्तनलिकाओं और उस से ऊपर पित्ताशय तक हो सकता है। शीत के प्रकोप तथा विषम आहार-विहार के प्रभाव से भी यह हो सकता है। इसके लक्षण यह होते हैं—त्वचा और आँख का शुक्ल भाग गहरे पीले रंग का, आलस्य, निद्रालुता, मलाक्त फटी हुई रेखाओं से युक्त जिह्वा, भोजन की अनिच्छा, कोष्ठबद्धता या अतिसार, मूत्र का रंग काला और पुरीष का रंग साधारण पीला तथा वह कीचड़ जैसा बदबूदार होता है। पुरीष में ये लक्षण कोष्ठ में अवरोधवश पित्त का निःसरण न होने से होते हैं जिसके परिणामस्वरूप रोगी घृत व वसा आदि को पचा नहीं सकता है और मल में शकृतरंजकपित्त की सर्वथा अनुपस्थिति होती है। इस प्रकार के कामला में त्वचा का रंग शनैः-शनैः पीला होकर अधिक गहरा पीला हो जाता है और तदनन्तर उसी क्रम से कम से कम हो कर लुप्त हो जाता है। इसके कारणों में 'संक्रमित यकृतशोथ', भी है।

अश्मरीजन्य कामला—इस में पित्तवह नलिकाओं का मार्ग अश्मरी से अवरुद्ध हो जाता है। रोग-लक्षण उपर्युक्त होते हैं, लेकिन अश्मरीजन्य वेदना, स्वेद, कंपकंपी, व्याकुलादि विशेष लक्षण होते हैं।

जीर्ण अवरोधजन्य कामला—इसमें पित्तवह स्रोतों के आभ्यन्तर मार्ग में रुकावट नहीं होती अपितु नलिकाओं पर बाहर से दबाव पड़ता है जिससे पित्तवह नलिकाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। पित्तनलिकाओं पर बाहर से दबाव उसके पार्श्ववर्ती अवयव क्लोमग्रन्थि के शीर्ष के अर्बुद के कारण हो सकता है। पित्तवह नलिकाओं पर अर्बुद का दबाव निरन्तर पड़ने से पित्तवह नलिकाओं में पूर्ण अवरोध उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण जीर्ण कामला के लक्षण पैदा होते हैं। इसमें त्वचा का रंग शनैः-शनैः पीला होना शुरू होता है, फिर गहरा पीला और उससे भी गहरा पीला होकर अन्त में जैतून के रंग का हरिताभ पीला हो जाता है। इस प्रकार के दीर्घस्थायी कामला में त्वचा में अत्यधिक कण्डू उत्पन्न हो जाता है। अवरोधजन्य कामला में पित्त के रंजक द्रव्य जहां रक्ताभिसरण में गति लगते हैं, वहाँ पित्त के लवण भी रक्त में उपस्थित

हो जाते हैं जिससे रक्तस्कन्दन की अवधि दीर्घ हो जाती है। अतः ऐसे रोगियों पर शल्यकर्म करना, सदैव रक्तस्राव पैदा होने का भय पैदा करता है।

शिशु कामला—यह सद्य प्रजात शिशुओं में होता है। सम्भवतः इस का एक कारण यह है कि शिशु के जन्म लेने के बाद ही उस के गर्भ-कालिक रक्त का सहसा नाश होना प्रारम्भ होता है जिस के परिणामस्वरूप रक्तरञ्जक पित्त रक्त में स्वतन्त्रतया गति करने लगता है। यह प्रायः जन्म के बाद सामान्य रूप से हुआ करता है और बिना कोई उपद्रव किये बिना इलाज के स्वयं शान्त भी हो जाता है। इस के सिवाय सम्भवतः इस का एक कारण यह भी होता है कि किन्हीं शिशुओं में गर्भकालिक पित्त प्रयोग में न आने से बहुत गाढ़ा होता है जिस कारण पित्त यकृत में चिरकाल तक स्थिर पड़ा रहता है। इस से उस पित्त का रक्त-परिवहन में पुन-रावूषण होना है और वह पित्त रक्त में जाकर कामला के लक्षण प्रकट करता है। शिशुकामला का एक दूसरा भेद वह होता है जिस में गर्भ-काल में ही पित्तनलिकाओं का मुख तथा मार्ग खुला न हो अपितु बन्द हो, यह अवस्था गंभीर और घातक होती है। यह अवस्था जन्मजात फिरङ्ग के कारण हो सकती है। इस में शीघ्र ही शल्यकर्म द्वारा पित्तनलिकाओं का मुंह व मार्ग खोलना चाहिए।

रक्तविश्लेषी कामला—जब किसी कारणवश रक्त के रक्त-कोष टूटने लगते हैं और उन का रञ्जक पित्त रक्तपरिवहन में स्वतन्त्रतया गति करने लगता है तब यह होता है। ऐसा प्रायः दो कारणों से होता है। (१) रक्त के गंभीर रोगों—घातक पांडु अथवा रक्तकणों के आशा-तीत रूप से क्षय होने पर होता है। इस में घातक पांडु और कामला के लक्षण होते हैं। (२) रक्त में वैज्ञानिक रूप से किसी विष के कारण रक्तकोषों का विश्लेषण होने से होता है। प्रायः सर्पविष, ट्राईनाइट्रो-टोल्यून, मलेरिया, जिस में तीव्रवेग से रक्तकणों का नाश होता है, में कामला के लक्षण प्रकट होते हैं।

व्यापक संक्रमित कामला- इस का प्रसार व्यापक रूप से होता है। यह 'स्पाइरोकीटा' या 'लैप्टोस्पाईरा-इक्टरो-हैमरेजिका' नामक जीवाणु के संक्रमण के कारण होता है जिस का सर्व-प्रथम अन्वेषण १६१४ में जापान में हुआ था। मनुष्य-शरीर में पहले पाँच छः दिनों में स्पाइरो-कीट्स रक्ताभिसरण में उपस्थित होते हैं तदनंतर मूत्र में प्रकट होते हैं। अभी तक ऐसा नहीं जाना गया कि ये 'स्पाइरोकीट्स' शरीर के भीतर किसी कीट-पतंग के काटने से प्रवेश करते हैं। किन्तु सम्भवतः छिली हुई त्वचा में से उन उन का सीधा संक्रमण रक्त में हो सकता है। इन का संक्रमण चूहों द्वारा भी होता है और विषाक्त स्पाइरोकीट्स उन के मूत्र में भी विद्य-मान रहते हैं जो उन में किसी प्रकार का विकृति-जनक लक्षण नहीं पैदा करते। पर सम्भवतः जल के द्वारा मनुष्य-शरीर में स्पाइरोकीट्स का संक्रमण हो सकता है। इस रोग का आक्रमण सहसा शिरोवेदना, कंपकंपी, अत्यधिक अङ्ग-साद और १०३ अंश से १०५ अंश फा० ताप-मान के साथ प्रारम्भ होता है। नाड़ी की गति अपेक्षाकृत मन्द होती है और शायद ही उस की गति प्रति मिनट १०० से ऊपर होती है। इस में क्षुधानाश, जीभ मलाक्त फटी हुई, उत्क्लेश, वमन और कोष्ठबद्धता होते हैं। प्रायः ओष्ठों पर पपड़ी और अङ्गों में वेदना होती है। इस के प्रारम्भ होने के चौथे दिन कामला के लक्षण प्रकट होते हैं जिस की चरमावस्था नौवें

तथा दसवें दिन होती हैं। इस में सर्वप्रमुख लक्षण शरीर के विभिन्न अवयवों से रक्तस्राव होना होता है। यह रक्तस्राव प्रायः नाक, आन्त्र और उदरकला की श्लैमिक झिल्लियों में अधिकतर देखा जाता है। यकृत का स्वरूप बढ़ जाता है, उस में स्पर्श करने से वेदना प्रतीत होती है लेकिन प्लीहा में शायद ही वृद्धि होती है। कामला के लक्षण पैदा होने पर दूसरे सप्ताह के बाद मूत्र में पित्त एल्ब्यूमिन और स्पाइरोकीट्स वर्तमान होते हैं और तब तक वर्तमान रह सकते हैं जब कामला के लक्षण लुप्त भी हो जाएँ। रक्त में ल्यूकोसाईट्ट (श्वेतकण) की वृद्धि हो जाती है। तापमान धीरे-धीरे सात से चौदह दिनों में उतरने लगता है। लेकिन तीसरे सप्ताह में ज्वर पुनः १०३ अंश फा० तक हो सकता है। अन्य लक्षण भी पुनः प्रकट हो जाते हैं और ये सात से दस दिनों तक रह कर पुनः लुप्त हो जाते हैं। इस रोग से मृत्यु बहुत कम होती है। इस के रोगियों की अधिकाँश संख्या रोग-मुक्त हो जाती है।

दिल्ली का पीलिया रोग

दिल्ली में जो पीलिया रोग फैल रहा है उस में प्रारम्भिक लक्षण ये देखे गए हैं—भूख न लगना, सिर दर्द, भयंकर कब्ज, पेट दर्द, जी मिचलाना (उत्क्लेश) वमन, और कंपकंपी के साथ साधारण ज्वर। इस के बाद पीलिया लक्षण प्रकट होते हैं जिस में आँखें पीली, पेशाब का रंग गहरा पीला, त्वचा का रंग पीला और मल का रंग श्वेत हो जाता है। यकृत् और पित्ताशय के स्थान पर दबाने से दर्द अनुभव होती है। किसी-किसी को खुजली भी हो सकती है। पीलिया पहले आँखों में प्रकट होता है और फिर क्रमशः सारे शरीर में फैल जाता है।

उक्त विवरण से यह तो स्पष्ट है कि दिल्ली में जो रोग व्यापक रूप से फैल रहा था, वह था तो पीलिया ही। लेकिन एलोपैथी और आयुर्वेदिक दृष्टि से उस को किस प्रकार के पीलिया में परिगणन करना चाहिए, यह हमने ऊपर जो कामला के भेद गिनाए हैं उन में से कोई होना चाहिए। क्योंकि दिल्ली में पीलिया रोग व्यापक व संक्रामक रूप से फैल रहा था अतः उस का कारण किसी प्रकार के विष या जीवाणुओं का शरीर में संक्रमित होना है। यह संक्रमण बाढ़ आने के बाद वहाँ जो मक्खियों, मच्छरों अथवा चूहों की वृद्धि हुई होगी उस से ही हुआ प्रतीत होता है। पिछले दिनों वहाँ जो अशुद्ध पानी पीने को मिला उस से भी इस रोग के संक्रमण होने की सम्भावना प्रकट की जा रही है।

★

ज्ञातव्य बातें

- सन् १९५४ में भारत में बिजली का उपयोग करने वालों की संख्या बढ़ कर २१ लाख ६४ हजार ७८२ हो गयी। सन् १९५० में यह संख्या १५ लाख ७३७ थी।
- दूसरी पञ्चवर्षीय आयोजना में गाँवों में बिजली लगाने के लिए ७५ करोड़ रु० की व्यवस्था की जा रही है।
- सन् १९५५-५६ की जनवरी में भारत सरकार को चीनी पर उत्पादन-शुल्क से १४ करोड़ ६ लाख रु० की आमदनी हुई।

पचनदीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलने

अध्यक्षीय-भाषणम्

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पतिः

पंचनदप्रदेशो मम जन्मस्थानम्। तत्र संस्कृत-सम्मेलननिमित्तमाहूय, देववाणीं सभाजयितुं, भवतः सर्वान् नमस्कर्तुं च भवद्भिर्मह्यमवसरो दत्त इत्यहं भवद्भ्यः प्रभूतान्धन्यवादान्वितरामि। इतिहासविज्ञा एवं कथयन्ति यदाद्यैः ऋषिभिरस्मिन्नेव पंचनदप्लाविते प्रदेशे ऋच. प्रगीताः, स्मृतिग्रन्थाश्च निर्मिताः। ततः कालादद्यपर्यन्तमनेके युगा उपयुगाश्च व्यतीताः, अस्मिन् प्रदेशे राजवंशाः समुत्थिताः पतिताश्च, आक्रान्तारः समागताः गताश्च, परमनेकासां संस्कृतीनां क्रीडास्थलं भूत्वाऽपि प्रदेशोऽयमद्यापि प्राचीनामार्षसंस्कृतिं मनसा हृदयेन च सम्मानयतीत्यत्र अणुरपि सन्देहावसरो नास्ति। यथायं प्रदेशोऽस्माकम्मातृभूमेः उत्तरदिशास्थो रक्षादुर्गस्तथैवास्माकं संस्कृतेः धर्मस्य चापि रक्षादुर्गो भविष्यतीत्यहं सर्वात्मना आशासे।

यदास्माकन्देशः पराधीनतापाशे निबद्ध आसीत्तदा बहवो भारतीया स्वात्मानम् अन्वेष्टुम् इंग्लैण्डे अन्येषु वा विदेशेषु पर्यटन्त, परं स्वाधीनतालाभानन्तरं स्पष्टमिदं संजातं यदस्माकं राष्ट्रस्य अन्तारात्मा नोपलब्धुं शक्यते पाश्चात्यदेशेषु, नापि पातालदेशेषु, स तु शक्यते प्राप्तु स्वदेशस्य प्राचीने वाङ्मये, प्राचीनेषु शिलालेखेषु, प्राचीनासु च जनश्रुतिषु। तेषु चापि सर्वेषु प्रधानं वेदादारभ्य पातञ्जलमहाभाष्यपर्यन्तं समस्तं देववाणीवाङ्मयं यस्मिन् हि भारतस्यान्तरात्मा सन्निहितः—

> यस्यामदः सन्निहिताः समस्ता
> धर्मेतिहासस्मृति-दर्शनाद्याः।
> अस्माकमात्मस्थितिसारभूताः
> तां देववाणीं बहुशो नमामः॥

अस्माभिरधुनास्वाधीनभारतस्य नवसंविधाने हिन्दीभाषाराजभासात्वेनाङ्गीकृता, सापि संस्कृतभाषास्कन्धमारुह्यैव प्रचलितुं शक्नोति नान्यथा। एभिरेव कारणैः देशस्य नेतारः साम्प्रतमेतन्मन्यन्ते यत्सर्वेभ्यो भारतीयेभ्यः संस्कृतभाषायाः कार्यक्षमं ज्ञानमावश्यकं वर्तते। श्रद्धेयेन राष्ट्रपतिमहोदयेन उपराष्ट्रपतिमहोदयेन च बहुश उद्घोषितमेतन्मतमन्यैश्च शिक्षाविज्ञैर्देशनेतृभिरनुमोदितम्। तदद्य संस्कृतवाङ्मयस्य संस्कृतसाहित्यस्य च समुज्जीवितोपयोगित्वं साध्यकोटीं विहाय सिद्धकोटीं प्रविष्टमित्यसंदिग्धम्।

एतावन्मया संस्कृतस्य राष्ट्रियमहत्त्वमुपलक्ष्य निवेदितम्। वस्तुतः संस्कृतस्य अन्ताराष्ट्रियं महत्वं तु इतोऽपि बृहत्तमम्।

> न स देशो न तद्राष्ट्रं यस्य साहित्यसंग्रहः।
> देववाणीमयैर्ग्रन्थैः शोभनै नैव शोभितः॥

प्रायः सर्वेषामेव सभ्यदेशाना प्रमुखपुस्तकालयेषु संस्कृतग्रन्था विनिहिताः सन्ति. तान्विना पुस्तकालयः अपूर्ण इति मन्यते। विविधासु विदेशीयभाषासु वेदस्मृति रामायणमहाभारतादिप्राचीनग्रन्थानां शाकुन्तलादिनवग्रन्थानां चानुवादाः प्रकाशिताः सन्ति, अद्यापि च प्रकाश्यन्ते। योरोपस्य,अमेरिकायाः, चीनाफगानिस्थानादिपौरस्त्यदेशानां च विश्वविद्यालयेषु न केवलं संस्कृतमध्याप्यते अपितु तेषु तत्रत्याः संस्कृतविशेषज्ञा अत्यन्तमादरणीया मन्यन्ते. प्रोत्साहनं च प्राप्नुवन्ति। पाश्चात्यविदुषां संस्कृताध्ययने तत्सम्बन्धिनि अनुसन्धानकार्ये प्रवृत्तिं च प्रेक्ष्य मनः अत्यन्तं मोदते।

देववाणी प्रायः सर्वासां भारतीयभाषाणां जननीति निर्विवादमेव, विशेषस्त्वयं यत्सा बहूनां

प्रमुखगौरस्य-पाश्चात्यभाषाणां जननी, ज्येष्ठभगिनी वेति सर्वैरपि विद्वद्भिः स्वीक्रियते । स्पष्टमेतद् यद्विश्वबन्धुत्वस्थापनाय संस्कृतभाषातोऽप्यधिकशक्तिशालिनी प्रेममयी शृंखला नान्या उपलब्धुं शक्यते ।

प्रसिद्धमेतदयच्छिलावज्जडोऽपि जनः "तत्त्वमसीति" बोधितः स्वात्मानमनुपश्यति परं वयमेतादृशाः भावशून्या यद्विदेशीयपण्डितैः "युष्मद्भाषा सर्वभाषाप्रजा, सर्वश्रेष्ठा चेति" प्रतिबोधिता अपि न निजगौरवस्य प्रतीकभूतां देववाणीं प्रति तथा दत्तावधाना जाता यथास्माभिर्भवितव्यम् ।

एषा दशासीद्विक्रमस्य विंशशताब्द्याः मध्यपर्यन्तम् । तं कालं वयमन्धकारकाल इति व्याहरामः । महाकविना सम्यगुक्तम्—"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण", शास्त्राणि निर्दिशन्ति यन्महाप्रलयस्यापि समाप्तिर्भवति, निशा हि प्रतिदिनमेव प्रभाते विलीयते । विंशशताब्द्या उत्तरभागे भारतीयेतिहासस्य रात्रिरपि विलयं गता । बहुभिराचार्यैः सुधारकैश्च देशस्य दुर्दशाम्प्रेद्य राष्ट्रस्य निद्राभंगाय डिण्डिमध्वनिः कृतो येनास्माकं व्यतीतगौरवं, विस्मृतं वाङ्मयं, स्मृतिपथादवतीर्णश्चेतिहासः पुनरपि जजागार । तदास्माभिरनुभूतं यदस्माभिरन्याभिः सर्वाभिः स्वकीयसम्पत्तिभिः सह देववाणीवाङ्मयमपि उपेक्षागर्ते पातितम् ।

भारते संस्कृतपाण्डित्यस्य संस्कृतशिक्षायाश्च ह्रासस्य गाथा नितरां खेदकरी । आंग्लानाम्भारताधिपत्यात्पूर्वं सर्वस्मिन्देशे, तत्र तत्र, संस्कृतपाठशाला वितता आसन् । वाराणसी-नवद्वीपमिथिलादिनगरेषु तु पाण्डित्यस्य भागीरथीव प्रवहति स्म । सहस्रशः छात्राः तत्र नवद्वीपशास्त्रज्ञाः भवन्ति स्म । आंग्लराज्येन सह भारते आंग्लभाषायाः पाश्चात्यसंस्कृतेश्च यो महाप्लव इव पूरः समागतस्तेन प्राचीनानि संस्कृतस्य केन्द्राणि नष्टप्रायाणि कृतानि । यानि नवीनानि केन्द्राणि निर्मितानि तत्र न संस्कृतस्योच्चशिक्षा प्रदीयते, अपितु आंग्लभाषायां संस्कृतविषये कतिचिद् ग्रन्था अध्याप्यन्ते । फलतः वर्त्तमानराज्यसम्मतविश्वविद्यालयानां संस्कृतस्नातकाः देववाणीसरस्वतीरे भ्रमितुं शक्ताः, न तु तस्य मधुरं जलं पातुं, जले प्रविश्य स्नानानन्दमुपलब्धुं वा समर्थाः । विद्यालये तु संस्कृतशिक्षायाः नितरामभाव एव भविष्यतीत्याशंका जायते । या आचार्य-शास्त्र्यादिपरीक्षाः प्रचलिता आसन् ताः शीघ्रमेव नामशेषा भूत्वा ऐतिह्यांशतां प्राप्स्यन्तीति संभावना समुत्पन्ना । एकतः श्रद्धेयराष्ट्रपतेः उपराष्ट्रपतेश्च संस्कृतप्रशस्तिपराणि भाषणानि, अन्यतश्च शिक्षाविभागस्य संस्कृतम्प्रति उपेक्षाभाव—आश्चर्यकरोऽयं भावोनां भावनानां च परस्परविरोधी व्याघातः ।

संस्कृतज्ञानशिक्षणादिविषये पंचनदप्रदेशस्य दशा तु नितरां शोचनीया । देशस्य अन्येषु प्रदेशेषु विशेषरूपेण दक्षिणभागे अद्यापि संस्कृतप्रेम संस्कृतपाण्डित्यं च क्वचित्क्वचिदुपलभ्यते । तेषु प्रान्तेषु अनेके आंग्लभाषायां प्राप्तोपाधयोऽपि विद्वांसो देववाणीपारंगताः तन्मर्मज्ञाश्च उपलभ्यन्ते । परमस्मिन् पाणिनिमुनिजन्मपरिपूते प्रदेशे संस्कृतपाण्डित्यं सीमितमिव संजातम् । सन्ति विद्वांसो महाविद्वांसश्च, परन्तु तेषाम्मनस्त्वादृश एव भावः, यादृशो राज्ञा दिलीपेन वशिष्ठमुनेः समक्षे प्रकाशितः । तेनोक्तमासीत्—

"नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥"

अस्मदनन्तरमस्मिन्प्रदेशे संस्कृतस्य का गतिर्भविष्यतित्येषा चिन्ता तान् प्रतिदिनं बाधते । सुसमाचारोऽयं समाचारपत्रेषु प्रकाशितः, प्रामा-

णिकरूपेण समुद्घोषितश्च यत्पंचनदराज्यस्य मन्त्रिणः कुरुक्षेत्रतीर्थे संस्कृतविश्वविद्यालयमेकं संस्थापयितुमिच्छन्तीति। इदमपि श्रुतं यद्दानवीरेण बिड़लामहोदयेन पंचलक्षपरिमिता राशिस्तस्मै प्रदत्ता इति। शुभोऽयं समाचारस्तदर्थं तन्त्रिणो दानिनश्च धन्यवादानर्हन्ति। परन्तु क्षीणतोन्मुखस्य संस्कृतस्योद्धाराय एकस्मिन् अनेकेषु वा प्रान्तेषु विश्वविद्यालयस्थापनमात्रम्न पर्याप्तम्। विश्वविद्यालयाः संस्कृतस्योच्चशिक्षाम्प्रोत्साहयिष्यन्तीत्यत्र सन्देहो नास्ति परन्तु केवलमेतावता सार्वदेशिकी संस्कृतस्य अधःप्रवृत्तिर्न निवारिता भविष्यति। तदर्थं राज्येन जनैश्च एकचित्तीभूय कतिचिद्विशिष्टा उपायाः करणीयाः तेषु उपायेषु केचिदत्र मया निवेद्यन्ते—

(१) भारतीयबालकानाम्माध्यमिकशिक्षायां संस्कृतस्य अनिवार्यं स्थानम्भवेत्,

(२) विज्ञानेतिहासादिविषयकाणां सुगमपुस्तकानां संस्कृतभाषायाम्प्रसारः प्रोत्साहनीयः

(३) विद्यालयेषु शिक्षणकार्यं कुर्वतां संस्कृताध्यापकानामांग्लभाषाशिक्षकसमानमेव मासिकं वेतनं पदं च निश्चेतव्यम्

(४) राजकीयसेवादृष्ट्या शास्त्रिपरीक्षोत्तीर्णाः बी० ए०-समानाः, आचार्यपरीक्षोत्तीर्णाश्च एम० ए -समाना मन्तव्याः। शास्त्राचार्यादिपरीक्षाणां योग्यतास्तरमुच्चैः कर्तुं, तत्तत्परीक्षार्थं पाठविधौ गणितविज्ञानेतिहासादिविषयाणामपि सन्निवेशः कर्त्तव्यः।

तिरुपतिपुरे विश्वसंस्कृतसम्मेलनस्य यदधिवेशनमभूत्तस्मिन् राज्यद्वारा प्रान्ते-प्रान्ते संस्कृतविश्वविद्यालयानां स्थापनाः तेषां सर्वेषां पाठविधौ साम्यस्थापनाय अखिलभारतीयसंस्कृतशिक्षापटलस्थापनस्य च अनुरोधः कृतः। सर्वेऽप्येते प्रस्तावाः नितरामुपयुक्ताः, सामयिकाश्च, राज्याधिकारिभिः प्रज्ञाजनैश्च एकीभूय ते कर्मकोटीं प्रापणीया इति सर्वथा प्राप्तकालम्।

इत ऊर्ध्वं मया किंचित्संस्कृतपण्डितानां पुरतोऽस्ति निवेदनीयम्। यदि वयं संस्कृतभाषायाः प्रभूतम्प्रचारमिच्छामस्तदास्माभिरेष यत्नः करणीयो यत् सा सर्वैः जनैः सुखेन बोध्या ग्रन्थिरहिता च भवेत्। भाषायाः काठिन्यं दुरूहत्वं च तस्याः प्रचारे बाधकन्तु भवत्येव, लेखकं वक्तारं च पाठकेभ्यः श्रोतृभ्यश्च व्यर्थं करोति। 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं', यत्र श्रोता न बुध्यते'। प्राचीनैः वाल्मीकि-व्यास-भास-कालिदासाद्यैर्महाकविभिर्या नैसर्गिकी वैदर्भी रीतिरंगीकृता सैव भाषायाः तद्गतस्य वाङ्मयस्य च सार्वजनिकप्रचाराय श्रेयस्करी, न तु रीतिकालीना जटिलशब्दैः सुदीर्घसमासैः श्रवणकटुभिः सन्धिभिश्च युक्ता रीतिः। कल्पना क्रियताम् यत् केनापि महाविदुषा सार्वजनिकसभायां समुपस्थिताः संस्कृतज्ञा अल्पसंस्कृतज्ञाः संस्कृतानभिज्ञाश्च सदस्या एवं सम्बोधिताः—

"अयि वेदोपवेदवेदांगोपांगब्राह्मणोपनिषदैतिह्यपुराणादिसकलविद्यापारंगताः, न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-मीमांसा-वेदान्त बौद्ध-जैन-चार्वाकादिदर्शनचणाः, आन्वीक्षिकीन्यायविद्यादण्डनीत्यादिकलासु कुशलाः, सभासचालनादिव्यावहारिकविद्यानिपुणाः श्रीमन्तो भवन्तो महाभागाः।" इदं श्रुत्वा श्रोतृणाम्मनसि "महानयं पण्डितः परन्तु महाकठिना संस्कृतवाणी" इत्येवं भावं विहाय न कोऽप्यन्यो भावः समुदेष्यति। यस्यां भाषायां शब्दाः सरलाः, समासाः अदीर्घा, सन्धयश्च स्वल्पाः स्युः, सा लेखकस्य वक्तुश्च यशो वर्धयति, श्रोतृणां हृदयानि प्रसादयति, भाषां च लोकप्रियां ग्राह्यां च विदधाति।

यद्येवं राज्याधिकारिणः, संस्कृतविद्वांसः, सर्वे चान्ये देशवासिनः एकीभूय सहयोगवृत्त्या प्रयत्नं

कुर्युस्तदा अचिरेणैव कालेन देशस्य गौरवभूता देववाणी पुनरपि भारतभूमिमिमां देवैरपि स्पृहणीयां कर्तुं शक्ष्यतीत्यत्र मम सन्देहोनास्ति।

अन्ते च मया एतत्प्रार्थ्यते—

"यथा प्रख्यापितः पूर्वं
देशोऽस्माकं जगद्गुरुः।
उदेतु सा पुनः पुण्या
दिव्या भारत-भारती॥"

—

बबुई तुलसी

श्री रामेश बेदी

भारत में यह पौदा सदियों से मसालों में बरता जा रहा है। इङ्गलैंड में यह अपनी मसाले की सी सुगन्ध के कारण बहुत देर से लोकप्रिय है। तरी वाली सब्जियों और पुलावों में पत्ते डाले जाते हैं। कृत्रिम कछुए के शोर्वे और फेटर लेन चटनियों का यह अङ्ग है। फ्रेंच रसोई में भी न्याजबो बहुत पसन्द की जाती है।

सुनहरी पीले रङ्ग का उड़नशील तेल सुगंधों (परफ़्यूमरी) में और अनेक प्रकार के पेयों में काम आता है।

चिकित्सा में उपयोग

हकीमों के चार तुख्मों में एक बर्बरी के बीज हैं। इन्हें तुख्मे-रेहां कहते हैं। बङ्गाल में इन्हें तोकमारी कहते हैं। यह शब्द तुख्मे-रेहां का बिगड़ा हुआ रूप है।

महास्रोतस के रोग

चिरस्थायी मलबन्ध में शर्बत के साथ बीज खिलाये जाते हैं। इन का फाण्ट भी पुरानी कब्ज़ में लाभ करता है। तेज़ दस्तावर दवा देने के बाद आँतों में क्षोभ को शान्त करने के लिए बीजों को ईसबगोल की तरह शर्बत से फँकाते हैं। प्रवाहिका (डिसेण्ट्री) और अतिसार में बीज लाभदायक होते हैं। बड़ों को चार माशे से आठ माशे तक शर्बत के साथ या खाँड मिला कर पानी के साथ फंका देने से बहुत लाभ होता है। बीजों के लेने की एक विधि यह है कि इन्हें थोड़े से पानी में भिगो छोड़ते हैं। भिगोने से ये फूल कर एक लेसदार पदार्थ में बन जाते हैं। इसे बीजों का लुआब या शीतनिर्यास कहते हैं। इस में खाँड मिला कर उपर्युक्त अवस्थाओं में खिलाते हैं। पुरानी पेचिश (डिसेण्ट्री) में बीजों के चूर्ण को बबूल की गोंद के साथ गुलाब के अर्क में लुआब बना कर खिलाते हैं या बीजों का फाण्ट बना कर देते हैं। अनाम में शीत-निर्यास वमन और अतिसार को दूर करने के लिए दिया जाता है। यह मुख की दुर्गन्ध को भी दूर करता है।

पत्तों का रस पेट के कीड़ों को मारता है। अजीर्ण तथा उदरशूल में और पेट के कीड़ों को मारने के लिए स्वरस पिलाते हैं। अफारे में देने से पेट की वायु निकल जाती है जिस से रोगी को सांस लेने में सुविधा हो जाती है। अग्निदीपन के लिए फूलों का भी प्रयोग किया जाता है।

✱

गुरुकुल महोत्सव

१२ एप्रिल का मनोहर प्रभात। कुलभूमि में चहुँ ओर वार्षिक महोत्सव के प्रारम्भ होने का उल्लास छा रहा है। यह देखिए उत्सव के विशाल पट-मंडप की छाया में ब्रह्मचारिगण मांगलिक होमाग्नि प्रदीप्त कर के मन्त्र-पाठ पूर्वक उत्सव का प्रारम्भ कर रहे हैं। बृहद्-यज्ञ के समाप्त होने पर मंडप के पूर्वीय द्वार के सामने ओंकार की पताका को मुक्त व्योम में फहराने की क्रिया श्री स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक के हाथों से हो रही है। कुल के बालचर-बटु करीने से खड़े होकर पताका गीत गा रहे हैं।

इतने मांगलिक अनुष्ठानों के पश्चात् श्री पन्नालाल पीयूष के मधुर प्रार्थना-गीत हुए और फिर श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी का धर्मोपदेश हुआ। तदनन्तर श्री धर्मदेव जी विद्या-मार्तण्ड के सभापतित्व में वेद सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में गुरुकुल के ब्र० विनोद कुमार, ब्र० दिलीप, ब्र० हेमसिंह, ब्र० प्रशान्त और ब्र० सुरेशकुमार आदि छात्रों ने वेद में गोपालन, अथर्ववेद का व्यापार-सूक्त, क्या अथर्ववेद जादू-टोनों का वेद है, आदि विषयों पर खोजपूर्ण निबन्ध पढ़े। वेदोपाध्याय श्री पं० रामनाथ जी वेदालंकार ने भी 'यज्ञों में पशुओं की चर्बी का प्रयोग' इस विषय पर एक अध्ययनपूर्ण निबन्ध का पाठ किया।

अपराह्न में दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डाक्टर नरेन्द्रनाथ चौधरी की अध्यक्षता में देववाणी सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में ब्र० अवधेश, ब्र० शांतिस्वरूप, ब्र० सत्यप्रकाश, ब्र० धर्मवीर, ब्र० सूर्यप्रकाश, ब्र० जगन्नाथ, ब्र० प्रशांतकुमार और ब्र० सुरेशकुमार आदि छात्रों ने "अल्प-शिक्षिते अस्मिन् भारतवर्षे प्रजातन्त्र-प्रणाली समुचिता न वा" इस विषय पर संस्कृत भाषा में सुन्दर वाद-विवाद प्रस्तुत किया। सभापति जी ने देववाणी के गौरव और उस के अध्ययन के महत्व पर प्रवचन किया।

रात्रि को कवि सम्मेलन की बड़ी रौनक रही। श्री देवराज दिनेश के सभापतित्व में रात को १२ बजे तक श्रोतागण काव्यमाधुरी का पान करते रहते। श्री बुद्धदेव विद्यालंकार, श्रीराम-शर्मा प्रेम, श्री अनिलकुमार विद्यालंकार, श्री शंभुनाथ आयुर्वेदालंकार, श्री रमानाथ अवस्थी, श्री कमल साहित्यालंकार, श्री सत्यव्रत सुगम, श्री महेशचन्द्र सिंहल, श्री दिनेश कुकरेती और श्री विराज आदि अनेक सुकवियों ने अपने काव्य-पाठ से श्रोताओं को लाभान्वित किया।

द्वितीय दिवस

आज प्रातःकाल से ही दीक्षांत समारोह के कारण कुल में आनन्द छाया हुआ था। साढ़े आठ बजे महाविद्यालय-भवन के चौगान में सब कुलवासियों ने मिल कर कुलपताका-गीत द्वारा अपनी प्रिय कुलमाता की संवर्धना की। उस के बाद प्रतिवर्ष की भाँति सब कुलवासी शोभायात्रा (जुलूस) के रूप में व्यवस्थित होकर दीक्षांत-मंडप की ओर प्रस्थित हुए। आगे-आगे मंगल-वाद्य बज रहे थे। नौ बजे मांगलिक शंखध्वनि के पश्चात् दीक्षान्त-विधि प्रारम्भ हुई। कुल-वन्दना गाई गई और फिर पवित्र होमाग्नि के समक्ष नवस्नातकों को आचार्य श्री प्रियव्रत जी ने व्रत ग्रहण करवाया। इसी समय नवस्नातकों को विश्वविद्यालय के नियत वेष के रूप में चोले पहनाए गए! श्री आचार्य जी ने सब नवस्नातकों को प्रमाण पत्र प्रदान किए तथा स्नातकों ने नत-मस्तक हो कर सद्विद्य के प्रसार, मानवजाति

की सेवा और अपनी विद्यादात्री मातृसंस्था के के प्रति श्रद्धावान रहने की प्रतिज्ञाएँ कीं। श्री आचार्य जी ने अन्तिम पाठ के रूप में उपनिषद् के उस प्रसिद्ध प्रवचन (सत्यवद, धर्मंचर आदि) द्वारा नवस्नातकों को उद्बोधित किया।

इस के अनन्तर कुलपति श्री इन्द्र जी विद्या-वाचस्पति ने आज के समारम्भ के प्रधान अतिथि श्रीयुत अनन्तशयनम् आयंगर महोदय की विद्वत्ता, शालीनता, सरलता, उदारता और स्वसंस्कृतिप्रियता का परिचय देकर उन का अभि-



श्रीयुत अनंतशयनम् आयंगर

नन्दन किया और दीक्षान्त प्रवचन करने की प्रार्थना की। तुमुलहर्षध्वनि और माल्य-प्रदान के पश्चात् माननीय आयंगर जी ने हिन्दी में ही दीक्षांत उपदेश किया। (भाषण अन्यत्र दिया गया है)। दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से वहाँ के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री डाक्टर नरेन्द्रनाथ जी चौधरी ने नवस्नातकों को देव-वाणी संस्कृत में आशीर्वचन कहे। पुराने स्नातकों की ओर से श्री दीनदयालु जी शास्त्री ने नव-स्नातकों का स्वागत किया। नवस्नातकों की ओर से ब्र० गोपाल वेदालंकार ने भावपूर्ण भाषा में गुरुजनों और साथियों से विदाई ली और कृतज्ञता के विचार प्रकट किए। श्री स्वामी नारायणानन्द जी ने संन्यासी महात्माओं की ओर से नवस्नातकों को आशीर्वाद दिया और अन्त में स्वामिनी सभा के प्रधान के प्रतिनिधि के रूप में उपप्रधान श्री पं० बुद्धदेव जी विद्या-लंकार ने वैदिक वचनों द्वारा आशीर्वाद प्रदान किए। कुलगीत के पश्चात् समारोह समाप्त हुआ।

अपराह्न में भजनों के पश्चात् श्री क्षितीश जी वेदालंकार ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमिका रचते हुए भारत की एकता पर बड़ा प्रोत्साहक भाषण दिया। आपने प्रांतवाद और भाषावाद की प्रचलित प्रवृत्तियों के दुष्परिणामों का चित्र प्रस्तुत करते हुए मातृभूमि की एकता को अक्षुण्ण बनाने की अपील की।

तत्पश्चात् गुरुकुलाचार्य श्री प्रियव्रत जी वेद-वाचस्पति ने भारतीय संस्कृति के अध्ययन, अन्वे-षण और संरक्षण की दिशा में किए गए गुरुकुल के प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए आर्य जनता से कुल के लिए धन की अपील की।

रात को श्री स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक ने शिक्षा की सफलता पर व्याख्यान दिया। आपने बताया कि सच्ची शिक्षा मनुष्य का चारित्रिक निर्माण करती है और साथ ही वह उसे भौतिक दृष्टि से भी आत्मनिर्भर बनाती है इसलिए नवीन भारत में शिक्षा का पुनः निर्माण करते हुए हमें जीवन की सर्व-देशीय प्रगति साधने वाली शिक्षायोजना बनानी चाहिए।

तृतीय दिवस

प्रातर्होम और भजन-कीर्तन के पश्चात् श्री

पं० यशपाल जी सिद्धान्तालंकार ने प्रभु प्राप्ति विषय पर बोलते हुए कहा कि जगत् की अशांति का प्रधान कारण यह है कि मनुष्य का सारा समय भौतिक विषयों में लगा रहता है। मनुष्य प्रभु चिन्तन में पाँच पल भी नहीं लगा सकता और फिर आत्मिक शांति चाहता है। इस के पश्चात् श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार के सभापतित्व में सरस्वती सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में ब्र० सुरेशकुमार, ब्र० दिलीप, ब्र० हेमसिंह, ब्र० प्रशांतकुमार और ब्र० योगेन्द्रकुमार त्रिपाठी ने हिंदी भाषा में 'जगत की आधुनिक समस्याएँ वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा ही हल हो सकती है, इस विषय पर मनोहर वाद विवाद प्रस्तुत किया।

दोपहर बाद श्री पन्नालाल जी पीयूष के मनोहर भजनों के पश्चात् श्री स्वामी नारायणानन्द जी का उपदेश तथा श्री पं० शिवकुमार शास्त्री का भाषण हुआ और फिर श्री यशपाल जी सिद्धान्तालंकार के सभापतित्व में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में स्वाधीन भारत में स्वतन्त्र रूप से चलने वाले शिक्षणालयों की कार्य दिशा कैसी होनी चाहिए इस विषय पर अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए।

रात को भजनों के पश्चात् श्रीयुत विश्वनाथ त्यागी ने अपने विचारोत्तेजक भाषण में बताया कि स्वाधीनता के पश्चात् नवभारत के निर्माण में आर्यसमाज को अपना विशेष योग देना चाहिए। उस के लिए यह आवश्यक है कि आर्यसमाज के विद्वान् भारत के विद्याकेन्द्रों के विचारकों से ज्ञानचर्चा कर के वैदिक आदर्शों के आधार पर जीवन-निर्माण की योजनाएँ बनाएँ। पश्चिमी लोग अब भारतीय जीवन दर्शन और तत्वज्ञान की शिक्षा के लिए अच्छी मात्रा में आ रहे हैं, उन्हें आर्यसंस्कृति का विशुद्धस्वरूप आर्य समाज ही समझा सकता है।

तत्पश्चात् श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार ने ऋग्वेद के प्रसिद्ध सिन्धु सूक्त के अर्थ लगाने में पाश्चात्य विद्वानों ने कितनी भयंकर भूलें की हैं– इस बात का विशद विवेचन किया। आपने बताया कि वह सारा 'सूक्त' का वर्णन करता है— नदियों का नहीं। भाषाशास्त्र और भूगोल शास्त्र के आधार पर आपने पाश्चात्य स्थापनाओं का खूब खण्डन किया।

चतुर्थ दिवस

प्रभात में गुरुकुलाचार्य श्री प्रियव्रत जी ने नवप्रविष्ट छात्रों का उपनयन कर के उन्हें गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया और उन का वेदारम्भ संस्कार कर के ब्रह्मचारी के कर्तव्यों को समझाया।

अपराह्न में श्री पन्नालाल जी पीयूष के मधुर और भावपूर्ण भजनों के पश्चात् श्री शिवकुमार जी शास्त्री का व्याख्यान हुआ। फिर श्री धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड के सभापतित्व में दलितोद्धार सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन में विभिन्न वक्ताओं ने बताया कि संविधान में दलितों को सवर्णों के समान अधिकारों की घोषणा कर देने मात्र से हमारा काम पूर्ण नहीं हो जाता। जब तक उन का सामाजिक दृष्टि से उत्कर्ष साधन नहीं होता तब तक यह समस्या पूर्ववत् विकट ही बनी रहेगी। सभापति जी ने इस विषय में आर्य समाज के दृष्टिकोण को ही सब से अधिक उपादेय बताया।

रात को हरिद्वार के श्रवणनाथ मठ के अधिपति श्री स्वामी शंकरानन्द जी के सभापतित्व में छात्रों का व्यायाम सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस

के विद्यालय के छात्रों के सामूहिक व्यायाम के खेल दर्शनीय थे। कालेज के छात्रों के अङ्गबल के प्रयोग भी आकर्षक थे। इस प्रकार उत्सव सानन्द समाप्त हुआ।

★

वेद का राष्ट्रीय गीत

लेखक—श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति। आचार्य, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, प्रकाशन मन्दिर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय। मूल्य ५)।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति की लिखी 'वेद का राष्ट्रीय गीत' यह पुस्तक अत्यन्त सुन्दर है। अथर्ववेद के १२ वें कांड का प्रथम सूक्त 'मातृभूमि सूक्त' के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध सूक्त है।

यह सूक्त हम ने सब से प्रथम सन् १९०६ में संस्कृत भाष्य के साथ मराठी में छापा था। २००० पुस्तकें छापी थीं। छप कर हमारे पास सौ दो सौ पुस्तकें आयीं होंगी। इस का बहुत विज्ञापन भी नहीं हुआ था। इतने में अंग्रेज सरकार ने इस पुस्तक की सब कापियां बम्बई प्रेस से ही जप्त की और जला दीं। इसी समय प्रयाग के किसी देश भक्त लेखक ने इस का हिन्दी अनुवाद छापा था। उस की भी तीन हजार प्रतियां जप्त कर के अंग्रेज सरकार ने जला दी थीं। इस तरह पहिले ६ महीनों में ही इस की मराठी और हिंदी की मिला कर लगभग पांच हजार प्रतियां अंग्रेजी सरकार ने जला दीं थीं। इतना प्रभावी यह राष्ट्रगीत है। तत्पश्चात् इस का मुद्रण करने पर जो प्रतिबन्ध लगा था वह अंग्रेज सरकार के जाने तक रहा। अब अपनी सरकार है इसलिए यह पुस्तक सुख से प्रकाशित हो सकती है। यदि यह पुस्तक अंग्रेजी सरकार के राज्य में प्रकाशित होती तो इस की भी अवस्था ऐसी ही होती। वैदिक राष्ट्रगीत का ऐसा और इतना प्रभाव है। इस राष्ट्रीय गीत का रहस्यसहित अर्थ प्रकाशित करने के कारण विद्वान लेखक प्रशंसा के लिए योग्य है।

प्रथम ६८ पृष्ठों की भूमिका में अनेक उपयुक्त विषयों की चर्चा की है। यह भूमिका इतनी अच्छी है कि वह हर एक पाठक के विचार पूर्वक पढ़ने योग्य है। वेद के विषय में प्राचीन आधुनिक विद्वानों की सम्मतियां यह इसका विभाग विशेष देखने योग्य है।

वेद के राष्ट्रीय गीत का और स्पष्टीकरण इस पुस्तक के द्वितीय भाग में १४४ पृष्ठों में प्रकाशित किया है प्रत्येक मंत्र का पृथक् पृथक् शीर्षक देकर बड़ा ही उपयुक्त तथा राष्ट्रीय भावना बढ़ाने वाला स्पष्टीकरण देने से विद्वान लेखक के विषय में बड़ा आदर उत्पन्न होता है। वेद के उपयुक्त विषयों के ऐसे ही ग्रन्थ विद्वानों के द्वारा प्रकाशित होने चाहियें। गुरुकुल का प्रकाशन मन्दिर इस क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रहा है। इस कार्य से गुरुकुल की शोभा बढ़ रही है।

यह राष्ट्रीय गीत वेद के उत्तम सूक्तों में से एक है। प्रत्येक मन्त्र में कुछ न कुछ अच्छा ही बोध है। इसलिये हम पाठकों से यही अनुरोध करेंगे कि वे इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र का मनन-पूर्वक पाठ करें और राष्ट्रभक्ति से अपने मन प्रफुल्लित करें। —वैदिक धर्म, जुलाई ५५।